CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
२५५
13.5
Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हि० १२

१.५५

आगम में तनालोचनार्थ

कृपया इस ग्रन्थको निम्नांकित तिथि पर या उसके पूर्व लौटा दें। विलम्बसे लौटानेपर ५ पैसे प्रतिदिन दण्ड देना होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पं. मुनि श्रीमल प्रकाशन : ८

हि० १२

समयसार-प्रवचन

(नव-तत्त्व-विवेचन)

१५५

प्रवचनकर्ता
पं. विजय मुनि, शास्त्री
सम्पादक
मुनि समदर्शी, प्रभाकर

प्रकाशक :
श्री वर्धमान श्वे. स्था. जैन श्रावक संघ
जैन साधना सदन, २५९ नाना पेठ, पूना २.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संचालक एवं प्रकाशक :
कनकमल मुनोत, एम्. ए.
पं. मुनि श्रीमल प्रकाशन
२५९ नाना पेठ, पूना २.

□

मूल्य ३-५० रुपए

□

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

□

फरवरी १९७०

□

मुद्रक :
कनकमल मुनोत
प्रभात प्रिन्टिंग वर्क्स
७४१ गणेश पेठ, पूना २.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्पादकीय

भारतीय-चिन्तन में आध्यात्मिक एवं भौतिक दोनों तरह के विचार उपलब्ध होते हैं। कुछ दार्शनिक एवं विचारक ऋषि-मुनि आत्मा-परमात्मा, मोक्ष, सिद्ध, ईश्वर, ब्रह्म आदि के सूक्ष्म चिन्तन में संलग्न एवं अपने विचारों को प्रस्तुत करने में तत्पर दिखाई देते हैं, तो कुछ विचारक ऐसे भी परिलक्षित होते हैं, जिन्हें आत्मा-परमात्मा, लोक-परलोक एवं स्वर्ग-नरक पर विश्वास नहीं है, जो केवल इस मात्र जीवन को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। इसलिए उनका नारा रहा है- खूब खाओ, खूब पिओ, और खूब मौज-मजा करो, यही जिन्दगी का आनन्द है और यही जीवन का चरम-लक्ष्य है, क्यों कि मरने के बाद कुछ भी शेष नहीं रहता, सब कुछ नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार की भौतिकवादी विचारधारा वर्तमान युग में ही नहीं युग-युगान्तर से चली आ रही है। दर्शन-शास्त्र में यह धारा चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध है, और इसके प्रवर्तक थे—आचार्य बृहस्पति। आज इस विचार-धारा का साहित्य उपलब्ध नहीं होने से यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, कि इस का जन्म कब हुआ, और इसके मूल विचार क्या थे? परन्तु जैन-आगमों, बौद्ध-त्रिपिटकों एवं षड्-दर्शन में इस विचार-धारा के जो उद्धरण मिलते हैं, उसी के आधार पर यह कहा जा सकता

...इ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है, कि अति-प्राचीन युग में आध्यात्मिक विचारों के साथ भौतिक विचारों का भी भारत में प्रचार था।

जैन-धर्म एवं जैन-दर्शन अध्यात्मवादी दर्शन है। और वह अध्यात्म-साधना को ही महत्व-देता है। क्यों कि जैन-धर्म के संस्थापक वीतराग एवं सर्वज्ञ हैं। और वीतरागता एवं सर्वज्ञता को प्राप्त करके आत्मा के शुद्ध-विशुद्ध एवं परम-शुद्ध-स्वरूप को प्राप्त करना, यह उनके प्रवचनों का एवं चिन्तन का मूल लक्ष्य रहा है। इसलिए साधक को बाह्य योगों में एवं बाह्य-पदार्थों में उलझने एवं अटकने की बात जैन-दर्शन नहीं कहता है। वह तो स्पष्ट शब्दों मे कहता है—बाहर से भीतर की ओर मुड कर स्व स्वरूप को जानो, समझो, और अपने स्व-स्वभाव का उपभोग करो, अर्थात् अपने स्वभाव में परिणमन करो, पर-स्वभाव में नहीं।

वह वेदान्त की तरह भौतिक पदार्थों को, माया को एकान्त रूप से मिथ्या नहीं कहता। पुद्गल, कर्म एवं बाह्य पदार्थों के अस्तित्व को जैन-दर्शन स्वीकार करता है, और यह भी मानता है, कि जब तक जीव कर्मों के साथ संयुक्त है, तब तक वह भौतिक पदार्थों का एवं व्यवहार का त्याग नहीं कर सकता। जब तक संयोग अवस्था है, तब तक यौगिक-क्रियाएँ होंगी ही, उसे कथमपि रोका नहीं जा सकता। इसलिए जैन-दर्शन साधक-अवस्था में बाह्य पदार्थों एवं बाह्य क्रिया-काण्ड का एकान्त रूप से निषेध नहीं करता, प्रत्युत व्यवहार दृष्टि से वह उन क्रियाओं का समर्थन भी करता है, जो स्व-स्वरूप में स्थित होने में सहायक हैं। आगम का एक ही आदेश है—जो कुछ करो, करने के पूर्व उसके स्वरूप का परिज्ञान करो, और उसके बाद विवेक पूर्वक करो। अध्यात्म-साधना में मुख्य बात यह है, अपने आत्मा-स्वरूप को समझ कर और पर के [illegible] एवं स्वरूप को समझ कर तथा पर-भाव एवं पर पदार्थों में रमण करने से

ई...

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
आत्मा की क्या स्थिति होती है, किस प्रकार संसार बढता है, इस बात को समझ कर अपने आपको अपने स्वरूप एवं स्वभाव में स्थित करना। अध्यात्म-साधना एवं संयम का अर्थ है—पर पदार्थों की आसक्ति एवं ममत्व का तथा पर-भाव अर्थात् विभाग—राग—द्वेष का परित्याग करना। शरीर, इन्द्रिय, वचन एवं मन द्वारा होने वाली क्रिया बन्ध का कारण नहीं है। त्रि-योग जड है और उनसे होने वाली क्रिया भी जड है। वह जड पदार्थों या पुद्गलों को आकर्षित कर सकती है। भले ही वह क्रिया सांसारिक कार्यों की हो या धार्मिक अनुष्ठान के रूप में की जा रही हो, उससे तब तक पुण्य-पाप का बन्ध नहीं होता, जब तक उसके साथ जीव में राग-द्वेष की परिणति नहीं होती। बन्ध का मूल क्रिया में नहीं, राग-द्वेष की वैभाविक परिणति में है। अतः यदि व्यक्ति की क्रिया में आसक्ति है, ममत्व है, अनुराग है आर उसी को आत्म साधना समझने की गलत समझ है, तो वह बाह्य क्रिया-काण्ड भी बन्ध का कारण है। अस्तु, त्याग पदार्थों का नहीं, आसक्ति, ममत्व एवं राग-द्वेष करना है, और अपनी दृष्टि को क्रियाओं से हटा कर आत्म-स्वभाव में स्थिर करना है। क्रिया करना नहीं है, वह तो होती है। मैं यह कर रहा हूँ, मैंने इतनी उत्कृष्ट क्रिया एवं साधना की है, यह अहंकार भी मिथ्या है। योगों के द्वारा होने वाली क्रियाओं पर अहंकार करना एवं उनमें अपनत्व बुद्धि रखना धर्म नहीं हैं। धर्म है, विवेक एवं ज्ञानपूर्वक वीतराग भाव में रहते हुए क्रिया करने में। इसलिए आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है—तप का, जप का, ज्ञान का, एवं अन्य क्रियाओं का अहंकार करना एवं इस लोक में प्रशंसा प्राप्त करने, यश-कीर्ति के टुकडे बटोरने, धन-वैभव, पुत्र आदि को प्राप्त करने एवं परलोक में स्वर्ग एवं चक्रवर्ती आदि के वैभव और भोगों को प्राप्त करने की इच्छा एवं आकांक्षा से की जाने वाली साधना बन्ध का कारण है। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि अध्यात्म-

...उ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

साधना एवं धर्म केवल क्रिया काण्ड में नहीं, प्रत्युत राग-द्वेष, कषाय, आसक्ति, तृष्णा आदि वैभाविक विकारों का त्याग कर के स्व-भाव में रमण करने में है। इसलिए वास्तव में संयम और धर्म है—आत्मा को आत्मा के द्वारा जान कर अपने स्वरूप में स्थित होना, और अपने स्व-भाव में परिणति करना।

समयसार और आगम :

आगम में आत्म-साधना के दो रूप बताए हैं—निश्चय-दृष्टि और व्यवहार दृष्टि। निश्चय-दृष्टि से आत्मा का आत्म-स्वभाव में रहना एवं समभाव में परिणमन करना सामायिक है, और पर भाव एवं पर-पदार्थों से निकल कर स्व-भाव एवं स्व-स्वरूप में लौट आना, और उसीमें स्थित होना प्रतिक्रमण है, तथा स्व-स्वरूप का अध्ययन, चिन्तन एवं मनन करना स्वाध्याय है। यदि एक शब्द में कहूँ, तो आत्मा को समझना, उस पर विश्वास करना और आत्म-स्वरूप में स्थित होना, यही अध्यात्म-साधना है और यही सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र की साधना है। शेष क्रिया-काण्ड को व्यवहार दृष्टि से साधना कहा है। भगवती-सूत्र में यह स्पष्ट कर दिया है— जो व्यक्ति तत्त्व के स्वरूप को जानता है, भेद-ज्ञान को जानता है, स्व और पर को जानता है, उस व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला हिंसा, झूठ, चोरी आदि का त्याग-प्रत्याख्यान, सुप्रत्याख्यान है, सम्यक्-त्याग है, और जो तत्त्वज्ञ नहीं है, स्व-पर के भेद-ज्ञान का ज्ञाता नहीं है, उस के द्वारा किया जाने वाला हिंसा आदि का त्याग-प्रत्याख्यान, दुष्प्रत्यात्याख्यान है और मिथ्या-त्याग है। क्यों कि त्याग-तप की क्रियाओं का महत्व ज्ञान-पूर्वक एवं विवेक-पूर्वक करने पर ही है।

समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने जो आगमों में निश्चय-नय और उपादान का वर्णन बीज रूप में था, उसीका विवेचन किया। उन्होंने न तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकान्त रूप से व्यवहार का निषेध किया है, और न एकान्त रूप से निमित्त को ही ठुकराया है। जैन-दर्शन को एकान्तवाद-भले ही वह निश्चय दृष्टि का हो या व्यवहार का, और उपादान दृष्टि का हो या निमित्त-दृष्टि का, स्वीकार नहीं है। परन्तु आचार्य ने निश्चय एवं उपादान दृष्टि से नव-तत्त्वों एवं आत्म-स्वरूप का वर्णन किया, इसलिए उसमें निश्चय एवं उपादान की प्रधानता का आना स्वाभाविक था। परन्तु इससे यह समझना भयंकर भूल है, कि आचार्य कुन्दकुन्द व्यवहार एवं निमित्त को मानते ही नहीं थे। इस भ्रान्ति के कारण ही समयसार का नाम सुनते ही कुछ लोग विदक जाते हैं। जहाँ तक मैं समझा हूँ, इसका एक कारण यह भी है, कि साम्प्रदायिक व्यामोह के दायरे में आवद्ध होने एवं केवल क्रियाओं में उलझे रहने के कारण वे समयसार को समझ ही नहीं पाए हैं। जिस व्यक्ति को तत्त्वों का बोध नहीं है, स्व-पर के स्वरूप का परिज्ञान नहीं है, और स्वभाव एवं विभाव की जानकारी नहीं है, तथा आगम-साहित्य का एवं आगमों की निश्चय और व्यवहार-दृष्टि का ज्ञान एवं अध्ययन नहीं है, वह समयसार को एवं आचार्य कुन्दकुन्द के विचारों को क्या समझेगा?

समयसार-प्रवचन :

घाटकोपर में, बम्बई में आध्यात्मिक विचारों को सुनने-समझने की अभिरुचि है। और यहाँ के संघ के प्रमुख व्यक्तियों का आग्रह था, कि विजय मुनिजी इस १९६९ के वर्षावास में समयसार पर प्रवचन दें। आत्म स्वरूप, आत्म-साधना एवं नव-तत्त्व के सम्बन्ध में आचार्य कुन्दकुन्द की क्या दृष्टि है, इसे समझाएँ। इसीका परिणाम है—यह समयसार प्रवचन।

आगम में भगवान महावीर ने कहा है—कोई भी आगम, कोई भी शास्त्र और कोई भी ग्रन्थ अपने आप में सम्यक् एवं मिथ्या नहीं है।

...ए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कहीं पर किसी को सम्यक् या किसी को मिथ्या कहा गया है, वह व्यवहार-दृष्टि से है। वास्तव में निश्चय-दृष्टि से आगम, शास्त्र, ग्रन्थ एवं पोथी-पन्नों में ज्ञान नहीं है, ज्ञान आत्मा का गुण है और वह आत्मा में ही है। सम्यक् और मिथ्या ये दोनों ज्ञान की शुद्ध और अशुद्ध पर्यायें हैं। जिस आत्मा में ज्ञान की शुद्ध पर्याय है अथवा सम्यक्-ज्ञान है, उसके लिए निमित्त रूप से उपलब्ध होने वाले सभी शास्त्र सम्यक् हैं, और जिसकी ज्ञान-पर्याय अशुद्ध है, उसके लिए और तो क्या, आचारांग, भगवती आदि ग्यारह अंग भी मिथ्या रूप में ही परिणत होंगे। इस प्रकार किसी ग्रन्थ को एकान्त रूप से मिथ्या-ग्रन्थ कहना एवं मिथ्यात्व का प्रसार और प्रचार करने वाला कहना, मिथ्या है आर आगम से विपरीत है। समयसार का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो गया, कि इस में ऐसी कोई बात नहीं है, जो आगम एवं सिद्धान्त के विरुद्ध है। इतना अवश्य है, कि इसे समझने के लिए दृष्टि की विशुद्धता एवं तत्त्व-ज्ञान का गहन अध्ययन आवश्यक है।

प्रवचनकार :

समयसार के प्रवचनकार विजय मुनिजी शास्त्री हैं। आप का अध्ययन एवं चिन्तन कितना गहन, विराट् एवं व्यापक है, यह प्रस्तुत प्रवचनों के अध्ययन से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। आप प्रवचनकार, लेखक, साहित्य-कार, एवं दार्शनिक तो हैं ही, पर साथ में गंभीर विचारक एवं अध्यात्म-शास्त्र के तत्त्व-वेत्ता भी हैं। जैन-आगम, जैन-दर्शन एवं आचार्य कुन्दकुन्द तथा जनाचार्यों के आध्यात्मिक ग्रन्थों का आपने गहराई से अध्ययन किया है। इस के साथ आपने भारतीय एवं पाश्चात्य-दर्शन एवं वेदान्त और उपनिषदों के अध्यात्मवाद का चिन्तन पूर्वक अध्ययन किया है। इसलिए आप के विचारों में एवं चिन्तन में गहराई, व्यापकता एवं निष्पक्षता है।

ऐ...

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्री विजय मुनिजी की प्रवचन शली मधुर आर सुन्दर है। विषय को स्पष्ट करने की और अपनी बात को जन-जन के मन पर अंकित कर देने की आप में अद्भुत शक्ति है, और इस कला में आप पूर्णतः पारंगत हैं। आपकी भाषा सरल, मधुर एवं सहज है। यही कारण है, कि समयसार जैसे आध्यात्मिक शास्त्र के गहन-गंभीर एवं नीरस विषय को सरस, रसमय एवं सुगम बना कर जन-जन के मन-मस्तिष्क में उंडेलने में आप पूर्णतः सफल रहे हैं। आपके गहन.गंभीर विषय पर होनेवाले प्रवचनों को भी इसी सरल एवं सरस शैली के कारण काव्य-सुनने जैसा आनन्द आता है, और इस सफलता का प्रत्यक्ष-प्रमाण है—यह समयसार-प्रवचन और नव-तत्त्व विवेचन।

जैन—स्थानक
घाटकोपर, बम्बई.
नवम्बर १४, १९६९

—मुनि समदर्शी, प्रभाकर

....ओ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशकीय

विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन ।
स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते ।।

राजा का राजापन एवं विद्वान् की विद्वत्ता की तुलना नहीं की जाती। राजा तो सिर्फ अपने राज्य में ही पूजा जाता है, किन्तु विद्वान् का सन्मान तो सभी ओर होता है। संसार में रहनेवाले जीव यदि विद्वत्ता प्राप्त करते हैं, तो उनका वह विद्याधन और सभी धनों से श्रेष्ठ माना जाता है। यही कारण है कि विद्वानों के विद्वत्ता-प्रचुर प्रवचनों का मानव समाज पर गहरा प्रभाव पडता है। और विद्वानों की विद्वत्ता को प्रकाशित कर उसे चिरायु करने का ही ध्येय 'पं. मुनि श्रीमल प्रकाशन' का है।

इस प्रकाशन के प्रेरक पं. विजय मुनि शास्त्री चिन्तक, अभ्यासू विद्वान् हैं। आपके चिन्तन का विषय सिर्फ जैन दर्शन ही नहीं है। उन्होंने संसार के सभी दर्शनों का गम्भीरता से अध्ययन, चिन्तन, मनन किया है।

वेदान्त परम्परा के आचार्यों ने जैन दर्शन का उस काल में मानव पर गहरा प्रभाव जब देखा तो उनसे रहा नहीं गया। जैन दर्शन को नीचा दिखाने के लिए उन्होंने अथक् प्रयत्न किये। जैन दर्शन का प्रभाव जन-मानस पर से हटता सा दिखाई देने लगा। तब अनेक जैन आचार्य अग्र-सर हुए और जैन-दर्शन का तर्कशुद्ध समर्थन करने में प्रयत्नशील हुए।

औ...

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द भी उन प्रभावशाली विद्वानों में प्रमुख स्थान पाये हुए हैं। उनकी सिद्ध हस्त कृतियों ने समाज में अटल एवं अडिग स्थान प्राप्त किया।

फिर भी उनकी कृतियों के बारे में, उनके विचारों के बारे में समाज में कुछ गलतफहमियाँ प्रसृत हुई हैं। लेखक के विचारों को समझने के लिए निष्पक्ष दृष्टि का होना परमावश्यक होता है। उस के अभाव में लेखक का चिन्तन शून्य-सा लगता है, गलत धारणा एँ पाठकों की हो बैठती हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के बारे में भी यही अनुभव है। पं. विजय मुनिजी ने अपनी गहरी चिन्तनशीलता एवं विद्वत्ता प्रचुर भाषण-शैली में आचार्य श्री के विचारों को समझने की दृष्टि का दिग्दर्शन 'समयसार-प्रवचन' में श्रोताओं को प्रदान किया। बम्बई की जैन-अजैन जनता ने हजारों की संख्या में चाव से प्रवचन सुने, आत्मसात् किये।

इन्हीं प्रवचनों को ग्रन्थबद्ध करने का सफल संपादकीय प्रयत्न पंडितजी के निकटवर्ती साथी मुनिश्री समदर्शी, प्रभाकर ने किया। आज हम उन प्रवचनों को हमारे पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने में अपने आपको धन्य मानते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के भावों को—विचारों को समझने की योग्य दृष्टि हमारा पाठक गण रख पाएगा, उसीमें हमारी इस पुस्तक की सफलता है।

बसन्त पञ्चमी
वीर संवत् २४९६

—कनकमल मुनोत

...अं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस पुस्तक में

१	तत्त्व की परिभाषा	३
२	जीव-तत्त्व	९
३	अजीव-तत्त्व	३१
४	पुण्य तत्त्व	३७
५	पाप-तत्त्व	४५
६	आस्रव-तत्त्व	५३
७	संवर-तत्त्व	६२
८	बन्ध-तत्त्व	६९
९	निर्जरा-तत्त्व	७९
१०	मोक्ष-तत्त्व	८८
११	तत्त्व-विवेचन	९७
१२	अध्यात्म-साधना	१०२
१३	आगमों में तत्त्व-वर्णन	१०७
१४	निश्चय और व्यवहार	११७
१५	नय का स्वरूप	१२४
१६	निमित्त और उपादान	१३१
१७	उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता	१३९
१८	जैन-दर्शन और वेदान्त	१४५
१९	आचार्य कुन्दकुन्द और समयसार	१५०
२०	तत्त्व-स्परूप	१५८
२१	सम्यक्त्व-महिमा	१६०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समयसार
प्र
व
च
न

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्व की परिभाषा

१

नव-तत्त्व पर भगवती, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन आदि आगम-साहित्य में विशेष रूप से विचारचर्चा की गई है। आगम-युग के अनन्तर आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-सूत्र के ३५७ छोटे-छोटे सूत्रों में नव-तत्त्व पर इतना सुन्दर, और विस्तृत विवेचन किया है, कि उस में एकादश अंग-साहित्य का ही नहीं, चतुर्दश पूर्व का सार आ गया है। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित समयसार में भी क्या है? नव-तत्त्व का विवेचन ही तो है। सिद्धान्तवादी आचार्य नेमिचन्द्र ने द्रव्य-संग्रह में नव-तत्त्वों का ही विश्लेषण किया है। इस प्रकार आगम-युग एवं आगम के उत्तर कालीन आचार्य-युग में रचित ग्रन्थों में नव-तत्त्वों का वर्णन विशेष रूप से मिलता है।

जीवन में तत्त्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीवन और तत्त्व एक दूसरे से संबद्ध हैं, अलग-अलग नहीं। जीवन में तत्त्व समाविष्ट है, और तत्त्व में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन आ ही जाता है। जीवन में से तत्त्व को, और तत्त्व में से जीवन को निकाल कर अलग फेंक देने का अर्थ है—व्यक्ति एवं आत्मा के अस्तित्व से इन्कार कर देना। इससे स्पष्ट है, कि तत्त्व के बिना जीवन गतिशील नहीं हो सकता, और जीवन के अभाव में तत्त्व भी नहीं रह सकता।

हमारे सामने तीन व्यक्ति हैं—एक वैज्ञानिक, दूसरा दार्शनिक, और तीसरा कवि। तीनों दृष्टियों से युक्त व्यक्ति मानव-समाज में रहते हैं, और ये समाज में से ही उत्पन्न हुए हैं। याद रखिए, उनका उद्भव समाज में से होता है, उनका विकास भी समाज में होता है, और उनके विचारों एवं प्रयोगों का लाभ भी समाज को मिलता है। तीनों विचार-धाराएँ और तीनों दृष्टियाँ तीन तरह की होते हुए भी एक-दूसरी से सर्वथा भिन्न नहीं है, परन्तु तीनों का समन्वय जीवन में परिलक्षित होता है। अतः यह समझ लेना आवश्यक है, कि तीनों दृष्टियाँ एवं तीनों विचार-धाराएँ क्या हैं? इनकी परिभाषा क्या है?

विचार एवं चिन्तन की दृष्टि से तीनों का अपना-अपना स्वतन्त्र स्थान एवं महत्त्व है। वैज्ञानिक-दृष्टि वस्तु में स्थित सत्य का अन्वेषण करती है, वह वस्तु को खण्ड-खण्ड करके उसमें निहित तथ्य को, यथार्थता को जानने का प्रयत्न करती है। दार्शनिक-दृष्टि कल्याणकारी, मंगलमय एवं अमृतमय तथ्य को देखने का कार्य करती है। दार्शनिक का ध्यान कल्याण, मंगल और अमृत को खोज निकालने और जन-जन को वितरित करने का रहता है। कवि की दृष्टि जड-चेतन प्रत्येक वस्तु में स्थित सौन्दर्य एवं माधुर्य को देखने-परखने की रहती है। वैज्ञानिक सत्य का अन्वेषक है, दार्शनिक अमृतमय एवं कल्याणमय स्वरूप को सामने रख कर चिन्तन-मनन करता है, और कवि वस्तु के सौन्दर्य एवं माधुर्य का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवलोकन करता है। तीनों के कार्य तीन तरह के होते हुए भी तीनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं है। वास्तव में, सच्चा वैज्ञानिक वही है, जो दार्शनिक भी है, और कवि भी है। सच्चा दार्शनिक वही है, जिसमें वैज्ञानिक एवं कवि की सत्यान्वेषण और सौन्दर्य-अवलोकन की दृष्टि भी विहित है। सच्चे अर्थ में कवि वह है, वैज्ञानिक एवं दार्शनिक की भावना से ओत-प्रोत हैं। महान् विचारकों में हमें तीनों दृष्टियों का समन्वय स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

कालिदास अपने युग का एक महान् कवि था और आज भी महान् कवि के रूप में विश्व में प्रसिद्ध है। उसके द्वारा रचित मेघदूत में कालिदास की वैज्ञानिक दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है, रघुवंश में उसके दार्शनिक रूप का कल्याणकारी एवं अमृतमय चिन्तन का स्पष्ट दर्शन होता है, और अभिज्ञान-शाकुन्तल में उसका कवि हृदय बोल रहा है, वह पद-पद पर सौन्दर्य की छटा बिखेरता चल रहा है। महाकवि कालिदास के काव्य में वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं कवि, इन तीनों दृष्टियों का समन्वय परिलक्षित होता है।

भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट आगम-साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने पर हम निसन्देह कह सकते हैं, कि भगवान महावीर का जीवन, एवं उनकी साधना तीनों दृष्टियों से समन्वित थी। भगवान महावीर श्रमण एवं दार्शनिक ही नहीं, महान् वैज्ञानिक दृष्टि से भी युक्त थे। उनका अनेकान्त का सिद्धान्त सब से बड़ी वैज्ञानिक शोध है। वस्तु में एवं द्रव्य में स्थित अनेक धर्मों का तत्-तत् दृष्टि से अवलोकन करना, और सापेक्ष दृष्टि से उन की व्याख्या करना, यही अनेकान्त एवं स्याद्वाद का सिद्धान्त है। उस युग में एक ओर एकान्त नित्यवाद की स्थापना करने वाले वेदान्त के प्ररूपक थे, और दूसरी ओर एकान्त क्षणिकवाद या अनित्यवाद के संस्थापक बुद्ध थे। और दोनों का एकान्तवाद वस्तु के स्वरूप को समझने में बाधक था। यदि आत्मा को एकान्त रूप से नित्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मानते हैं, और यदि वह पूर्णतः कूटस्थ-नित्य है—उस में किसी तरह का परिवर्तन नहीं होता है। किसी तरह का विकार नहीं आता है, तब आत्मा का बन्ध एवं मोक्ष कैसे घटित होगा ? क्यों कि विकार-युक्त अशुद्ध भावों से बन्ध होता है, और विकारों के नाश से मुक्ति। अस्तु, एकान्त नित्य आत्मा में बन्ध और मोक्ष घटित नहीं हो सकते। इसी प्रकार यदि आत्मा को एकान्त अनित्य मानते हैं, तब उस में पुण्य-पाप के सम्बन्ध की व्यवस्था नहीं होगी ? क्यों कि जिस आत्मा ने जिस क्षण पुण्य या पाप किया, वह उसी क्षण समाप्त हो गया, अब उसका फल उसे न मिल कर उस के स्थान पर आए हुए दूसरे आत्मा को मिलेगा, जिसने उस क्रिया को किया ही नहीं है। और ऐसा कदापि नहीं होता, कि क्रिया कोई करे और उसका फल मिले दूसरे को। इसलिए एकान्त नित्यवाद भी दोष-युक्त है, और एकान्त अनित्यवाद भी। अस्तु, वस्तु के स्वरूप को समझने के लिए भगवान महावीर ने हमें अनेकान्त की वैज्ञानिक दृष्टि दी, और आज के वैज्ञानिक भी इसी सापेक्ष-दृष्टि, अनेकान्त-दृष्टि (Relative-vision) को सत्यान्वेषण के लिए उपयुक्त मानते हैं। भगवान महावीर ने कहा है—आत्मा या दुनिया का कोई भी द्रव्य न तो एकान्त रूप से नित्य है, और न एकान्त रूप से अनित्य है। वह द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है, और पर्याय की अपेक्षा से अनित्य। उसकी नित्यता भी सापेक्षिक है, और अनित्यता भी सापेक्षिक है।

इसी तरह भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट आगम-साहित्य में उनकी कवि की महान सौन्दर्य दृष्टि भी परिलक्षित होती है। उत्तराध्ययन में जीवन का अनन्त सौन्दर्य एवं माधुर्य पद-पद पर परिलक्षित होता है। उत्तराध्ययन में तन्मय हो कर उसका गान करने वाले साधक के राग-रंग वीतरागता की धारा में प्रवाहित हुए बिना नहीं रहेंगे। इस प्रकार सच्चे साधक में हमें तीनों दृष्टियों का समन्वय परिलक्षित होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब तक वैज्ञानिक में समन्वय दृष्टि नहीं आएगी, तब तक उसकी शोध कल्याणरूप नहीं हो सकती। एकान्त विज्ञान की दृष्टि अणु-बम्ब ही तैयार करेगी, जिस के परिणाम हिरोशमा एवं नागाशाकी की जनता भोग चुकी है, और जिसके नाम से सम्पूर्ण विश्व की मानव-जाति भयभीत है। एकान्त कवि दृष्टि भी वासना एवं विलासता से अधिक कुछ नहीं देती। और समाज के हित-अहित से पूर्णतः अलग हो कर एकान्त रूप से दर्शन की बात करनेवाले ऋषि भी साम्प्रदायिक घेरों को बनाने से अधिक कुछ नहीं कर सकते। इसलिये यह आवस्यक है, कि वैज्ञानिक दार्शनिक बनें और दार्शनिक वैज्ञानिक। क्यों कि वैज्ञानिक, दार्शनिक एवं कवि, तीनों दृष्टियों का, तीनों विचार-धाराओं का या यों कहिए सत्यान्वेषण, कल्याणमय एवं मंगलमय चिन्तन, एवं सौन्दर्यमय दृष्टि का अथवा सत्यं, शिवं, एवं सुन्दरं का संगम स्थल ही, जीवन है। अस्तु, जीवन और तत्त्व एक-दूसरे से भिन्न नहीं, प्रत्युत संबद्ध है।

नव-तत्त्व में मुख्य तत्त्व दो हैं–जीव और अजीव। इसके अतिरिक्त सात तत्त्व दोनों के संयोग और वियोग से बने हैं। दो पदार्थों के मिलन को संयोग, और दोनों के पृथक होने को वियोग कहते हैं। सातों तत्त्व पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं हैं, उनमें से कुछ संयोग से बने हैं, और कुछ वियोग से। आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप, ये चारों तत्त्व संयोग से बने हैं, और संवर, निर्जरा एवं मोक्ष, ये तीनों तत्त्व वियोग से बने हैं। जीव के आत्म-प्रदेशों को आवृत्त करने वाले कर्म जिस क्रिया से आते हैं, उस तत्त्व को आस्रव कहते हैं। जहाँ आस्रव होता है, वहाँ बन्ध भी होता है, क्यों कि क्रिया से आने वाले कर्म-वर्गणा के पुद्गलों का राग-द्वेष की परिणति से बन्ध होता है। आस्रव और बन्ध–शुभ और अशुभ भावों से शुभाशुभ कर्मों का होता है। शुभ को पुण्य कहते हैं, और अशुभ को पाप। इसलिए आस्रव, बन्ध, पुण्य एवं पाप चारों तत्त्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
जीव-अजीव के संयोग से बने हैं। संवर का अर्थ है—आस्रव से आने वाले कर्म-प्रवाह को रोकना, कर्मों के साथ आत्मा का संयोग नहीं होने देना। कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को एक देश से हटाने वाले तत्त्व को निर्जरा कहते हैं, और आत्मा पर लगे हुए सम्पूर्ण कर्म-वर्गणा के पुद्गलों के आवरण को हटा देने वाले तत्त्व को मोक्ष कहते हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये तीनों तत्त्व वियोग स्थिति के सूचक हैं।

आत्मा संयोग करता नहीं है, वह तो होता है। भले ही व्यक्ति के मन में कर्म के साथ संयोग करने की भावना हो, या न हो, जब तक व्यक्ति के मन में, जीवन में राग-द्वेष, मोह, विकार, विकल्प रहेंगे, तब तक कर्मों का संयोग होगा ही। शुभ और अशुभ भावों के अनुरूप शुभ और अशुभ आस्रव का—जिसे पुण्य और पाप कहते हैं, बन्ध होता ही है। जिस कर्म का फल हमें अच्छा लगता है, उसे पुण्य कहते हैं, और जिस का फल हमारे मन को रुचिकर नहीं लगता, उसे पाप कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति पुण्य का फल चाहता है, पर पाप का फल कोई नहीं चाहता। परन्तु एक आचार्य कहते हैं—आज व्यक्ति का जीवन ऐसा बन गया है, कि उसे जिस वस्तु का फल अच्छा लगता है, वह वस्तु अच्छी नहीं लगती, और जिस के फल को व्यक्ति पसन्द नहीं करता, उस कार्य को वह पसन्द करता है। यदि स्पष्ट भाषा में कहूँ, तो व्यंक्ति पुण्य-फल तो चाहता है, परन्तु पुण्य का कार्य करना नहीं चाहता। व्यक्ति पाप का फल भोगना नहीं चाहता, परन्तु पाप का त्याग भी नहीं करता। अतः व्यक्ति शुभ या अशुभ जैसा भी कार्य करेगा, उसे वैसा फल मिलेगा ही। और जो व्यक्ति विकार एवं विकल्प से रहित हो कर कार्य करेगा, वह शुभ और अशुभ दोनों से मुक्त रहेगा। आस्रव और बन्ध दोनों का आधार विकार और विकल्प हैं। अतः राग-द्वेष आदि विकारों को कम करना एवं उनसे मुक्त होना ही आस्रव और बन्ध से मुक्त होना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव-तत्त्व

२

जैन-दर्शन नव-तत्त्व स्वीकार करता है। तत्त्वार्थ सूत्र में सात-तत्त्व माने हैं—इसमें पुण्य-पाप का आस्रव में समावेश कर लिया है। यदि पुण्य-पाप को आस्रव के अन्तर्गत गिन लें तो उनकी संख्या सात होगी, और यदि पुण्य-पाप की स्वतन्त्र गणना करते हैं, तो तत्त्वों की संख्या नव होगी। यदि नव-तत्त्व स्वीकार करें या सात-तत्त्व इससे सैद्धान्तिक मान्यता में कोई अन्तर नहीं पडता। क्यों कि सात-तत्त्व मानने पर भी पुण्य-पाप अलग नहीं रहते। यदि हम गहराई से सोचें, तो मुख्यता दो तत्त्वों की है। भले ही तत्त्व-दृष्टि से विचार करें या द्रव्य-दृष्टि से नव-तत्त्व, सात-तत्त्व या छह-द्रव्य दो में समाविष्ट हो जाते हैं। जीव और अजीव-तत्त्व (Soul and Matter-Substance) में सभी तत्त्व आ जाते हैं। छह द्रव्यों में जीव और अजीव-द्रव्य ही मूल-द्रव्य (Fundamental Substance) हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और काल अजीव-द्रव्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतः जीव और अजीव में सब तत्त्व एवं द्रव्य समाविष्ट हो जाते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीव का लक्षण :

अब प्रश्न यह है, कि जीव क्या है ? जीव का स्वरूप क्या है ? जीव का लक्षण क्या है ? इस के समाधान में जैन-दर्शन के सभी विचारक एक-मत हैं। आगम-साहित्य में, तत्त्वार्थ सूत्र में, समयसार में एवं अन्य जैन ग्रन्थों में–जीव का उपयोग लक्षण बताया है। जहाँ उपयोग है, वहाँ जीवत्व है, और जहाँ उपयोग–ज्ञान का अभाव है, वहाँ जीवत्व का भी सद्-भाव नहीं रहता। उपयोग–ज्ञान जीव का, आत्मा का ऐसा लक्षण है, जो सभी जीवों में–चाहे वे सिद्ध हो या संसारी, उपलब्ध होता है। संसार में रहने वाले समस्त जीव–भले निगोद योनि के निविड अंधकार में रहने वाले जीव भी क्यों न हो, उपयोग से युक्त होते हैं, और सिद्ध-जीव भी उपयोग-युक्त होते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है–"**उपयोगो लक्षणम्**'–उपयोग जीव का लक्षण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में यही बात कही है, कि मैं (आत्मा) एक-मात्र उपयोग-मय, ज्ञानमय हूँ–"**उवओग एव अहमिक्को**।" आत्मा ज्ञानमय है, उपयोगमय है, इससे भिन्न कल्पना की ही नहीं जा सकती। लोक में –चाहे संसार-लोक में हो या सिद्ध-लोक में-एक भी आत्मा ऐसी नहीं है, जो ज्ञान शून्य हो। ज्ञान आत्मा का ऐसा गुण है, जो आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इसलिए आचार्य ने कहा – '**ज्ञानं आत्मा**' ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। आचारांग सूत्र में भी यही कहा है–"जो आत्मा है, वही विज्ञाता है। और जो विज्ञाता है, वही आत्मा है।" जिस (ज्ञान) से जाना जाता है, वह आत्मा है और ज्ञान की इस शक्ति के माध्यम से ही आत्मा की प्रतीति होती है। निश्चय दृष्टि से देखने पर आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं है और ज्ञान आत्मा से भिन्न नहीं है। अनेक में एक को और भेद में अभेद को देखना निश्चय दृष्टि है। और भेद दृष्टि से अलग-अलग कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
देखना व्यवहार दृष्टि है। इस दृष्टि से हम कहते हैं, कि ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण और गुणी के भेद से दोनों भिन्न भी हैं। कहने का तात्पर्य यह है, कि व्यवहार दृष्टि से ज्ञान आत्मा का गुण है अथवा निश्चय दृष्टि से आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहें, तो इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। दोनों का अभिप्राय एक ही है, कि आत्मा ज्ञान-शून्य नहीं है। यह बात अलग है, कि समस्त जीवों का, आत्माओं का ज्ञान एवं उपयोग एक-जैसा नहीं है। संसार में परिभ्रमण करने वाले संसारी जीवों एवं सिद्ध जीवों के उपयोग में कुछ अन्तर भी है। वह यह है—सिद्धों में पूर्णतः शुद्ध उपयोग होता है, परन्तु संसारी जीवों में अशुद्ध उपयोग भी होता है। उपयोग दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध उपयोग शुभ और अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। आत्मा का आत्म स्वरूप में रमण करना, स्व-स्वरूप में स्थित होना, वीतराग भाव में रहना, शुद्ध—उपयोग है। और पर-भाव एवं राग-द्वेष आदि वैभाविक भावों में रमण करना—अशुद्ध उपयोग है—वह शुभ भी होता है और अशुभ भी। शुभ को पुण्य और अशुभ को पाप कहते हैं। सिद्धों में परम शुद्ध उपयोग होता है, इसलिए वहाँ बन्ध नहीं होता। वीतराग-भाव में स्थित अरिहन्तों में शुद्ध उपयोग होता है, इसलिए वहाँ भी कर्म का बन्ध नहीं होता। परन्तु सरागी साधकों एवं अन्य संसारी प्राणियों में शुभ और अशुभ-रूप से अशुद्धोपयोग रहता है, इसलिए उनके पुण्य-पाप का बन्ध होता है। परन्तु जिस समय आत्मा राग-द्वेष से ऊपर उठ कर अपने स्वरूप में स्थिर होती है, उस समय न पुण्य का बन्ध होता है, और न पाप का, उस समय तो एकान्त रूप से पूर्व बद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती है।

आत्मा का स्वरूप :

ज्ञान-उपयोग यह आत्मा का असाधारण गुण है। यह आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। ज्ञान-उपयोग के द्वारा ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा स्व-स्वरूप को एवं पर स्वरूप को जानता है, और अपने आपको पर-भाव से हटा कर स्व में स्थित करने का प्रयत्न करता है। आध्यात्मिक विचारक श्रीमद् रायचन्द्र ने कहा है, कि जब व्यक्ति को षट् पद का ज्ञान हो जाता है, तो फिर उस के लिए कुछ भी जानना शेष नहीं रहता—आत्मा है, नित्यानित्य है, कर्ता है, भोक्ता है, मोक्ष है और मोक्ष का उपाय है। इन में संपूर्ण द्वादशांगी का, शास्त्रों का एवं नव-तत्त्वों का ज्ञान आ जाता है। सब से पहले जिस का परिज्ञान करना है, वह है—आत्मा। यदि आत्मा के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान हो जाए, तो वह व्यक्ति सम्यक्—दृष्टि हो जाता है। आत्म-ज्ञान के साथ उसे जड का भी वोध हो जाता है। वह समझ लेता है, कि मैं शरीर से भिन्न हूँ। आत्मा और पुद्गल दोनों भिन्न हैं। एक दूसरे के साथ रहते हुए भी एक-दूसरे में परिणत नहीं होते। आत्मा की परिणति आत्म-भाव में होती है, और जड की परिणति जड-भाव में। यह भेद-विज्ञान सम्यक्-दृष्टि को ही होता है। वह एक आत्म-तत्त्व का ज्ञान करने के साथ सब का ज्ञान कर लेता है। आचारांग सूत्र में कहा है—जो एक को पूर्ण रूप से जान लेता है, वह सव को जान लेता है, और जो सव तत्त्वों का परिज्ञान कर लेता है, वह एक का भी भली-भाँति ज्ञान कर लेता है। कहने का अभिप्राय यह है, कि जीव तत्त्व को जानने पर अजीव का ज्ञान सहज रूप में हो जाता है, और दोनों के ज्ञान में सव तत्त्वों का वोध हो ही जाता है। इसलिए जैन-आगमों में साधक को स्वयं को जानने का उपदेश दिया गया है। और उपनिषद्-साहित्य में यही कहा गया है—आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए, उसके सम्बन्ध में सुनना चाहिए, मनन—चिन्तन करना चाहिए और उसका ध्यान करना चाहिए। क्यों कि एक-मात्र आत्मा के ही दर्शन से, श्रवण से, मनन-चिन्तन से, ध्यान से और विज्ञान से सब कुछ जान लिया जाता है।*

*: बृहद् आरण्यक उपनिषद्, २, ४, ५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपनिषद्-साहित्य में एक कथा आती है, कि एक बार विष्णु के पास देव और दानव आत्म-स्वरूप को जानने के लिए गए। विष्णु ने कहा—तुम स्वयं अपने स्वरूप को देखो, जो कुछ तुम हो वही आत्मा है। दानव इस उत्तर से संतुष्ट हो गया। उसने कहा—मेरा शरीर यही आत्मा है, इससे भिन्न कुछ नहीं है। इसलिए वह खाने-पीने और सुख-साधन बटोरने में लग गया। परन्तु देव को इस से संतोष नहीं हुआ, उसने सोचना-विचारना शुरू किया। उस के विचार में यह आया, कि इन्द्रिय एवं शरीर का संचालक मन है। मन के संयोग के बिना इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकती, इसलिए शरीर नहीं, मन आत्मा है। फिर विचार आया, कि मन भी तब तक काम करता है, जब तक प्राण रहते हैं। इसलिए प्राण-शक्ति ही आत्मा है। परन्तु बाह्य पदार्थों के कम या अधिक होने पर प्राण-शक्ति में भी अन्तर आता है। इसलिए वह आत्म-चिन्तन की गहराई में उतरा, और मनन करते-करते उसे परिज्ञान हो गया, कि शरीर भी आत्मा नहीं है, मन भी आत्मा नहीं है, और प्राण भी आत्मा नहीं है। ये सब भौतिक हैं, नाशवान हैं, परिवर्तनशील हैं, आज हैं और कल नहीं भी रहते। परन्तु आत्मा नित्य है, शाश्वत है, और इन सब से भिन्न चेतन स्वरूप है, ज्ञानमय है, ज्योतिर्मय है। आत्म-स्वरूप का परिज्ञान होते ही उसे संतोष हो गया। इस से स्पष्ट है, कि जब व्यक्ति स्व-स्वरूप को जानने का प्रयत्न करता है, तब उसे स्व के साथ पर का भी बोध हो जाता है और उसे यह भी परिज्ञात हो जाता है, कि स्व और पर का सम्बन्ध क्या है? यह सम्बन्ध कैसे हुआ, और कैसे छूटेगा? मेरे कहने का अभिप्राय यह है, कि जब साधक जीव के, आत्मा के स्वरूप का ज्ञान करता है, तब उसे अजीव पुद्गल के, आस्रव-कर्म-आने के रास्ते के, बन्ध के, पुण्य-पाप के, संवर—कर्म रोकने वाले साधन के, निर्जरा-कर्म को एक देश से क्षय करनेवाली साधना के और मोक्ष-कर्म से पूर्णतः मुक्त करने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वाली आराधना के स्वरूप का सहज ही परिज्ञान हो जाता है। इसलिए आत्म-तत्त्व या जीव-तत्त्व एक ऐसा तत्त्व है, जिसे जान लेने पर सब कुछ परिज्ञात हो जाता है।

स्व-स्वरूप का ज्ञाता यह जानता है, कि मैं शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण आदि जड एवं भौतिक तत्त्व से परे हूँ, अलग हूँ। मैं शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और रूप-रंग विहीन हूँ। कर्म, नोकर्म एवं कर्म-विपाक मेरे नहीं हैं, ये सब विकल्प एवं विकार पर-द्रव्य के संयोग से ही उत्पन्न होने वाले पुद्गल के परिणाम हैं। अनादि काल से राग-द्वेष एवं मोह आदि के कारण यह शुद्ध विशुद्ध जीव कर्मों से आबद्ध होता रहा है, और मिथ्यात्व, अज्ञान एवं अविरति इन विषयों में परिणत होता रहा है। परन्तु यह वैभाविक परिणति एवं उस से बन्धने वाले कर्म और उस कर्म-विपाक से मिलने वाला शरीर, गति एवं पुद्गल न तो आत्मा के शुद्ध परिणाम हैं और न आत्म-स्वरूप ही है। यह सब स्व-भाव नहीं, पर-भाव है। यह ज्ञान जिसे होता है, वह सम्यक्-दृष्टि है। मिथ्या-दृष्टि को यह आत्म-बोध नहीं होता। वह शरीर को अपना समझता है। मकान, कार, धन आदि भौतिक-साधनों को अपना समझता है। इस प्रकार जब तक राग-द्वेष एवं मोह आदि भाव-कर्म एवं शरीर आदि नोकर्म में अहं-भाव, मम-भाव एवं अपनत्व बुद्धि है, तब तक वह अज्ञानी एवं मिथ्या-दृष्टि ही रहता है। पर-द्रव्य में—मैं यह हूँ, मैं इनका हूँ और ये भी मेरे हैं, मिथ्या दृष्टि व्यक्ति ही इस प्रकार के झूठे विकल्प करता है। स्व-स्वरूप को यथार्थ रूप से जानना एवं उस पर विश्वास करना सम्यक्त्व या सम्यक्-दृष्टि (Correct Belief) कहलाता है, और पर-द्रव्य में अपनत्व भाव रखना, पर को स्व मानना, शरीर आदि को ही आत्मा मानना मिथ्यात्व एवं मिथ्या-दृष्टि (Complete Wrong Belief) है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भारतीय-दर्शन में आत्मा :

भारतीय-दर्शन में चार्वाक ही एक ऐसा दर्शन है, जो आत्म-तत्त्व को शरीर से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानता। इस दर्शन के प्रवर्तक आचार्य बृहस्पति थे। भगवान महावीर ने सूत्रकृतांग-सूत्र में इस मत के सम्बन्ध में कहा है—भूतवादी चार-भूतों के संयोग से चेतन-तत्त्व की उत्पत्ति और उनके वियोग से सचेतन के अस्तित्व का विलुप्त होना मानते हैं। उन का कहना है—शरीर के अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। चार्वाक के अतिरिक्त सभी भारतीय-दार्शनिक इस बात में एक मत हैं, कि शरीर से भिन्न चैतन्य-तत्त्व है, जिसे जीव या आत्मा कहते हैं। आत्म-स्वरूप की मान्यता में सभी विचारक अपनी-अपनी विचार-धारा को अपने-अपने ढंग से रखते हैं, उसमें एकता नहीं, कुछ भिन्नता भी है।

वेदान्त विश्व में केवल ब्रह्म की सत्ता मानता है। अद्वैतवाद के संस्थापक आचार्य शंकर का कहना है—"एको ब्रह्म, द्वितीयो नास्ति"—संसार में, ब्रह्माण्ड में एक ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। आचार्य शंकर की दृष्टि में—ब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो जगत दिखाई दे रहा है, वह भी मिथ्या है—

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, नेह नानास्ति किंचनं॥"

ब्रह्म सत्य और जगत मिथ्या है। विश्व में नानात्व या अनेकत्व जैसा कुछ नहीं है। ब्रह्म से जीव भिन्न नहीं है, जीव ब्रह्म का ही अंश है, वह ब्रह्म स्वरूप है। यदि दोनों में अन्तर है, तो इतना ही है—ब्रह्म शुद्ध है, माया से रहित है, और जीव माया से युक्त है। माया का परित्याग करते ही, वह ब्रह्म बन जाएगा। सांख्य वेदान्त की तरह एक-तत्त्व नहीं, दो तत्त्व मानता है—पुरुष और प्रकृति। पुरुष और प्रकृति का जब तक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सयोग है, तब तक संसार है, और इन का वियोग मोक्ष है। वेदान्त और सांख्य में दूसरा भेद यह है, कि वेदान्त ब्रह्म–आत्मा को एक मानता है, और सांख्य अनन्त आत्मा मानता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन की मान्यता है, कि जीव में, आत्मा में ज्ञान स्वभाव से नहीं, संयोग से है। जब तक जीव संसार में रहता है, तब तक उस के साथ ज्ञान का संयोग रहता है। संसारी जीव में ज्ञान रहता है, परन्तु मुक्त होने पर उस में ज्ञान नहीं रहता। वह ज्ञान को आत्मा का गुण नहीं मानता, इसलिए उसमें गुण-गुणी सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं करता है। परन्तु जैन-दर्शन आत्मा के जिस स्वरूप को स्वीकार करता है, वह इतना परिपूर्ण है, कि उसमें किसी तरह का दोष नहीं आता। जैन-दर्शन स्वरूप की अपेक्षा से आत्मा को एक मानता है। क्यों कि सिद्ध एवं संसारी समस्त आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से एक समान है, सब में उपयोग गुण है, ज्ञान, दर्शन, सुख एवं शक्ति से संपन्न है। वह अनन्त चतुष्टय से युक्त है। तैत्तरीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप बताते हुए कहा है–"**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**" ब्रह्म सत्य है, ज्ञानमय है और अनन्त है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है–"**अदृष्टो द्रष्टा**" आत्मा स्वयं अदृष्ट रह कर भी द्रष्टा-देखने वाला है। इस से स्पष्ट है, कि जैन-दर्शन की तरह वेदान्त एवं उपनिषद् आत्मा को सदा-सर्वदा ज्ञान-सम्पन्न मानता है। जैन-दर्शन ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है, और गुण गुणी में ही रहता है, वह उस से कभी भी अलग नहीं होता। जो आत्मा संसार में ज्ञान से युक्त है, वह मुक्ति में उससे रहित कैसे हो सकता है? मुक्ति का अर्थ है–आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना, अपने निज गुणों को अनावृत करना। संसार में परिभ्रमणशील आत्मा में राग-द्वेष एवं मोह आदि वैभाविक भावों के कारण ज्ञान पर आवरण आ जाता है, इसलिए राग-द्वेष एवं मोह का जब तक सद्भाव रहता है, तब तक उसे पूर्ण ज्ञान नहीं होता। परन्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
राग-द्वेष एवं मोह का क्षय होते ही उसमें पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है। मोक्ष के समय राग-द्वेष एवं राग-द्वेष जन्य समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, इसलिए उस स्थिति में आत्मा की अनन्त ज्ञान-ज्योति पूर्णतः अनावृत हो जाती है, वह जरा भी धूमिल नहीं रहती। अतः यह कथन सत्य है—संसारी जीवों का ज्ञान धूमिल रहता है, और मुक्त जीवों—सदेह और विदेह—का ज्ञान आवरण से रहित होता है। परन्तु यह मान्यता नितान्त गलत है, कि मुक्त जीव ज्ञान से रहित होते हैं। ज्ञान के अभाव का अर्थ है—चेतना का अभाव। चेतन और जड में अन्तर यही है, कि चेतन ज्ञान युक्त है और जड में किसी तरह का ज्ञान नहीं है। वह न अपने को समझता है और न अपने हित-अहित को ही। यदि मुक्त-जीव को ज्ञान-शून्य मानते हैं, तो वह भी जड हो जाएगा। अतः ज्ञान जीव का गुण है, और वह कदापि उस से अलग नहीं होता।

जैन-दर्शन भी संसार में स्थित जीव एवं सिद्ध जीव में स्वरूप की अपेक्षा से कोई भेद नहीं करता। वेदान्त संसारी जीव को माया से युक्त मानता है, और जैन-दर्शन उसे कर्म से युक्त मानता है। परन्तु दोनों में अन्तर यह है—वेदान्त माया को, कर्म को एवं जगत को अर्थात् ब्रह्म—आत्मा के अतिरिक्त सब को असत्य मानता है, मिथ्या मानता है, और जैन-दर्शन कर्म को, जगत को मिथ्या नहीं, सत्य मानता है। यदि माया, जगत या कर्म कोई वस्तु है ही नहीं, तो वह आत्मा या जीव के साथ लगेगी कहाँ से? जिस का अस्तित्व ही नहीं है, वह किसी को आबद्ध कैसे कर सकेगी? अतः वेदान्त की मान्यता युक्ति एवं अनुभव से सिद्ध नहीं होती। जैन-दर्शन इस सम्बन्ध में स्पष्ट कहता है—कर्म जड हैं, आत्मा के स्वरूप से भिन्न हैं, परन्तु वे असत् नहीं हैं, मिथ्या नहीं हैं। उनका अस्तित्व भी है। वे अनादि काल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से इस लोक में हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। निश्चय दृष्टि से आत्मा अपने आत्म-भावों में परिणमन करता है, और पुद्गल अपने पुद्गल-भाव में परिणमन करते हैं। वैभाविक भावों के कारण दोनों का सम्बन्ध होने पर भी आत्मा की परिणति पुद्गल में नहीं होती और पुद्गलों की परिणति आत्मा में नहीं होती। आत्मा बद्ध होने पर भी आत्मा ही रहता है और पुद्गल पुद्गल रहता है। अतः मोह एवं अज्ञान के कारण तथा वेदान्त की भाषा में अविद्या के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है और मोह, अज्ञान एवं अविद्या का नाश होते ही वह मुक्त हो जाता है। वेदान्त एवं जैन दृष्टि से संसारी एवं मुक्त—जीवों तथा ब्रह्म एवं जीव में कर्म-मल से सहित और कर्म-मल से रहित तथा माया से सहित एवं माया से रहित का अन्तर है। इस मान्यता में जैन और वेदान्त-दर्शन एक मत हैं। जैन स्पष्ट रूप से परिलक्षित होने वाली माया, कर्म एवं पुद्गल की सत्ता से इन्कार नहीं करता, प्रत्युत उसे सत्य स्वीकार करता है।

आत्मा : नित्यानित्य :

आत्मा, नित्य है या अनित्य, इस सम्बन्ध में भारतीय दर्शन दो विभागों में विभक्त है। वेदान्त-दर्शन एकान्त रूप से आत्मा को नित्य मानता है। वह उसे कूटस्थ-नित्य कहता है। वेदान्त की दृष्टि से आत्मा में किसी भी क्षण किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन माया के कारण दिखाई देता है, और वह मिथ्या है।

बौद्ध-दर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक मानता है। वह कहता है, कि सरिता के प्रवाह की तरह आत्मा भी प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। सरिता के प्रवाह में जो जल-कण इस समय दिखाई देते हैं, वे बह जाते हैं और नये जल कण उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। प्रवाह एक-सा दिखाई देता है, परन्तु उस में आने वाले जल-कण पूर्व के जल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कणों से भिन्न हैं। इसी प्रकार प्रतिक्षण पुरातन आत्मा का स्थान नया आत्मा ले लेता है। उस में स्थायित्व जैसा कुछ नहीं है। वह एकान्त क्षणिक है, अनित्य है।

यदि आत्मा को एकान्त नित्य मानते हैं, तो उस में बन्ध और मोक्ष घटित नहीं होगा। जो आत्मा कभी बदलता नहीं, उसका कभी बन्ध नहीं होगा, और जब बन्ध नहीं है, तब मोक्ष भी नहीं होगा। और यदि आत्मा को अनित्य मानते हैं, तब उस में पुण्य-पाप एवं कार्य-कारण भाव नहीं घट सकेगा। जिस कारण से जो कार्य होता है, उस का फल उसी को मिलता है, अन्य को नहीं। ऐसा नहीं होता, कि कार्य कोई करे और उस का फल दूसरे को मिले। जो व्यक्ति चोरी करता है, उस का दण्ड भी चोरी करने वाले को मिलता है, अन्य को नहीं। बौद्ध-दर्शन की दृष्टि से जिस व्यक्ति ने चोरी का पाप कार्य किया, वह तो नष्ट हो गया, अब उस का फल उस को मिलेगा जिसने वह कार्य ही नहीं किया। वस्तुतः इस से अव्यवस्था फैलेगी। इसलिए न तो एकान्त-नित्यवाद सही है, और न एकान्त अनित्यवाद।

जैन-दर्शन आत्मा को न एकान्त नित्य मानता है, और न एकान्त अनित्य। वह उसे नित्यानित्य मानता है। आत्मा द्रव्य और पर्याय से युक्त है। आत्म-द्रव्य कभी बदलता नहीं है, और उसकी पर्यायें सदा बदलती रहती हैं। संसारी आत्मा या सिद्ध-आत्मा पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है और द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है। इसलिए आत्मा एक अपेक्षा से नित्य भी है और दूसरी अपेक्षा से अनित्य भी है। वह द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य है, और पर्यायार्थिक दृष्टि से अनित्य।

आत्मा : कर्ता और भोक्ता :

सांख्य-दर्शन आत्मा को कर्ता नहीं, भोक्ता मानता है। उस का कहना है, कि यदि उसे कर्म का कर्ता मान लेंगे, तो उस का मोक्ष नहीं होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्ता सदा काल कर्ता ही बना रहेगा। इसलिए पुरुष-आत्मा कर्ता नहीं है, कर्ता है—प्रकृति (जड)। यदि पुरुष कर्ता नहीं है, तो वह भोक्ता कैसे हो सकता है? चोरी करने वाले चोर को ही चौर्य कर्म का फल मिलेगा, अन्य को नहीं। व्यापार करने वाला व्यापारी ही धन का फल प्राप्त करेगा, अन्य नहीं। इसलिए यह मान्यता गलत है, कि कर्म का कर्ता प्रकृति है और उसके फल का भोक्ता पुरुष है।

परन्तु जैन-दर्शन जीव को कर्म का कर्ता एवं भोक्ता भी स्वीकार करता है। निश्चय दृष्टि से आत्मा न तो कर्म का कर्ता है और न कर्म का भोक्ता है। क्यों कि कर्म जड है, उस का कर्ता चेतन आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु जीव में राग-द्वेष एवं मोह की वैभाविक परिणति के कारण कर्म का बन्ध होता है, अथवा वैभाविक परिणति से प्रभावित पुद्गल पुद्गलों को आकर्षित करते हैं। निश्चय-दृष्टि से ज्ञानी के भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के अज्ञान से युक्त। अपने अज्ञानमय परिणामों से अज्ञानी कर्म-बन्ध करता है, और ज्ञानी ज्ञानमय भावों में परिणत होता है, इसलिए वह कर्म-बन्ध नहीं करता। अतः व्यवहार दृष्टि से यह कहा जाता है, कि राग-द्वेष की वैभाविक परिणति के कारण आत्मा कर्म-बन्ध करता है, और उस के फल को भी भोगता है। क्यों कि वैभाविक आत्मा में रहते हैं। अतः व्यवहार-नय से जीव कर्ता भी है और भोक्ता भी है। परन्तु निश्चय दृष्टि से वह न कर्म का कर्ता है और न भोक्ता। वह निज भावों का कर्ता है, और उसी का भोक्ता है। परन्तु व्यवहार में वह पुण्य-पाप का कर्ता भी है, और उस के फल का भोक्ता भी है। पर जब वह आत्म-स्वरूप को जान कर ज्ञान के द्वारा राग-द्वेष को नष्ट कर देता है, तब राग-द्वेष द्वारा आबद्ध कर्मों से वह वीतराग-भाव की साधना से मुक्त हो जाता है। अतः यह कथन सत्य नहीं है, कि कर्म का कर्ता मुक्त नहीं हो सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जब तक आत्मा अज्ञान-दशा में रहता है, तब तक मुक्त नहीं होता, परन्तु ज्ञान-दशा को प्राप्त आत्मा राग-द्वेष के वैभाविक भावों से मुक्त हो कर स्वाभाविक वीतराग भाव में स्थित हो जाता है। वास्तव में राग-द्वेष से मुक्त होना ही संसार से मुक्त होना है, जिसे मुक्ति या मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष और मोक्ष के साधन :

भारतीय–दर्शनों में मीमांसक–दर्शन मुक्ति को नहीं मानता। वह स्वर्ग को ही उच्च एवं श्रेष्ठ लोक मानता है। स्वर्ग में सुखों का उपभोग करना और पुण्य के क्षय होने पर पुनः मृत लोक में आ जाना। यहाँ फिर शुभ कर्मों के द्वारा स्वर्ग के सुख पाने का प्रयत्न करना। श्रेष्ठ भौतिक सुखों को प्राप्त करना ही उसके जीवन का लक्ष्य है।

जैन-दर्शन भौतिक सुखों के लिए की जाने वाली साधना को शुद्ध-साधना नहीं मानता। यह तो एक ऐसा कार्य है, कि सामान्य कीचड से भरे हुए वस्त्र को अत्यधिक कीचड में डालना और यह आशा रखना, कि वह साफ हो जाएगा। मानव-लोक का भौतिक सुख सुखरूप नहीं, तो स्वर्ग का सुख सुखरूप कैसे होगा? जो सुख सदा काल नहीं रहता और जो पदार्थ सदा-सर्वदा सुख रूप नहीं रहता, वह सुख ही नहीं है। यदि बादाम का हलवा सुख रूप है, तो वह पेट भरने के बाद एवं बीमारी की स्थिति में भी सुख प्रदाता होना चाहिए। परन्तु पेट भरने के बाद एवं बीमारी के समय यदि उसे खा लिया जाए तो वह दुःख प्रदाता बन जाता है। अतः पुद्गलों को पाना साधना का ध्येय नहीं है साधना का ध्येय है, स्व-स्वरूप को प्राप्त करना। और उस का साधन है—वीतराग भाव प्राप्त करना। राग–द्वेष का क्षय करना मुक्ति या मोक्ष है और उस का साधन है—समत्व-योग एवं वीतराग–भाव।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य :

भारतीय–दर्शन–साहित्य में सत्, पदार्थ, तत्त्व, द्रव्य का उल्लेख मिलता है। सत्, पदार्थ, तत्त्व, और द्रव्य, चारों एकार्थक हैं। वेदान्त-दर्शन ने सत् शब्द का प्रयोग किया है। एक ब्रह्म ही सत् है और सर्वत्र उसी की सत्ता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन ने पदार्थ शब्द का उल्लेख किया है, वे क्रमशः सोलह और सात पदार्थ मानते हैं। सांख्य-दर्शन ने इसके लिए तत्त्व शब्द का प्रयोग किया है, और वह २६ तत्त्व मानता है। जैन-दर्शन का अपना मूल शब्द द्रव्य है। वह षट् द्रव्य–धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव, मानता है। वैसे जैन–आगम एवं दर्शन साहित्य में सत्, पदार्थ एवं तत्त्व शब्द का भी उल्लेख मिलता है। आगमों में नव पदार्थ का एवं सात तत्त्वों का उल्लेख मिलता है। तत्त्वार्थ सूत्र में सत् की परिभाषा इस प्रकार की है–जो उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त है, वह सत् है–

"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तं सत्।"–तत्त्वार्थ सूत्र ५, २९.

जैन–दर्शन में द्रव्य की परिभाषा यह है–"द्रवति नवीन-नवीन पर्यायं गच्छति इति द्रव्यं"–-जिसमें नयी–नयी पर्यायों का आवागमन रहता है, वह द्रव्य है। द्रव्य वह है, जो स्वरूप से अपने में स्थित रहते हुए भी पर्यायों की दृष्टि से परिवर्तित होता रहता है, उसकी पर्यायों में प्रतिक्षण उत्पत्ति भी होती है और विनाश भी। समुद्र में निरन्तर तरंगें तरंगित होती रहती हैं। एक तरंग उछल कर तट से टकरा कर नष्ट होती है, कि उसी क्षण दूसरी नयी तरंग उत्पन्न हो जाती है और उन तरंगों की उत्पत्ति और विनाश में जल का अस्तित्व बना रहता है। कुम्हार मिट्टी से घट बनाता है। मिट्टी के पिण्ड की पर्याय नष्ट हो कर घट पर्याय की उत्पत्ति होती है, परन्तु नष्ट एवं उत्पन्नशील दोनों पर्यायों में मिट्टी के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
अस्तित्व का नाश नहीं होता। स्वर्णकार सोने की जंजीर का तोड कर सोने के कर्ण-फूल बनाता है। इस में जंजीर की पर्याय का नाश होता है और कर्ण-फूलकी पर्याय उत्पन्न होती है, परन्तु स्वर्णत्व दोनों में समान रूप से स्थायी रहता है। इसी प्रकार जीव-द्रव्य चेतन है, उस की चेतना–शक्ति का कभी नाश नहीं होता। वह तीन काल में भी जीव से अजीव, चेतन से अचेतन नहीं बनता। परन्तु उस की पर्यायों में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है। उसकी ज्ञान-दर्शन आदि पर्यायें बदलती रहती हैं। पूर्व पर्यायें नष्ट हो जाती हैं और उत्तर पर्यायें उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार न तो एकान्त नित्यत्व सत् है, और न एकान्त अनित्यत्व सत् है। वस्तुतः परिणामी नित्य ही सत् है।

कहने का अभिप्राय यह है, कि द्रव्य अपने त्रिविध परिणामों के रूप में द्रवित होता रहता है। पूर्व पर्यायों का परित्याग करके उत्तर पर्यायों को, नयी पर्यायों को प्राप्त करता रहता है। क्यों कि विना पर्याय का द्रव्य नहीं होता और द्रव्य भी कभी पर्याय–शून्य नहीं हो सकता। द्रव्य गुणात्मक है। उसके विविध रूपान्तर एवं परिवर्तन ही पर्याय कहे जाते हैं। द्रव्य के विना गुण नहीं रहते और गुण-शून्य द्रव्य भी नहीं है। द्रव्य गुण और पर्याय से युक्त ही होता है। द्रव्य गुण और पर्याय में परस्पर अन्यत्व तो है, परन्तु पृथक्त्व नहीं है। वस्तुओं में भेद दो प्रकार से होता है–अन्यत्व और पृथक्त्व। प्रदेशों की भिन्नता पृथक्त्व है और तद्रूप न होना अन्यत्व है। दूध और दूध की सफेदी, दोनों एक ही वस्तु नहीं है, फिर भी दोनों के प्रदेश पृथक्–पृथक् नहीं हैं और न किए जा सकते हैं। परन्तु दण्ड और दण्डी में पृथक्त्व है, उनको पृथक् किया भी जा सकता है। परन्तु द्रव्य, गुण और पर्यायों में यह पृथक्त्व नहीं है, उन्हें एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य की स्वतन्त्रता :

छहों द्रव्य अपने आपमें स्वतन्त्र हैं। सब अपने-अपने गुणों में परिणमन करते हैं। धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव लोक में स्थित हैं, अलोक में नहीं। अलोक में केवल आकाश द्रव्य है। पाँचों द्रव्य लोकाकाश को अवगाह कर रहते हैं, फिर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में अपने गुण उत्पन्न नहीं करता, और न पर-द्रव्य के गुणों को अपने अन्दर ग्रहण करता है। सभी द्रव्य साथ रहते हुए भी अपनी-अपनी पर्यायों में एवं अपने-अपने गुणों में परिणमन करते हैं। जीव और पुद्गल अनादि काल से साथ-साथ रहे हैं और बाहर से देखने पर एक-दूसरे में मिले हुए दिखाई दे रहे हैं। इसलिए बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा मान लेता है। परन्तु सत्य यह है, कि जीव-द्रव्य एवं उस की पर्यायों में अजीव द्रव्य एवं उस की एक भी पर्याय नहीं मिलती और अजीव-द्रव्य में जीव एवं उस की पर्यायों का मिश्रण नहीं होता। यदि जीव में अजीव या पुद्गल-द्रव्य मिल जाए, तो फिर जीव जड बन जाएगा, और पुद्गल में जीव की पर्यायें मिल जाए, तो वह चेतन बन जाएगा। फिर न तो जीव-द्रव्य का अस्तित्व रहेगा, और न अजीव-द्रव्य एवं अन्य-द्रव्यों का ही अस्तित्व रहेगा। इसलिए एक-द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे-द्रव्य में किसी भी प्रकार के अपने गुण एवं अपनी पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकता। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभाव से उत्पन्न होते हैं।[1] जीव पुद्गल में रहता है, यह कथन भी सत्य नहीं है, और पुद्गल जीव में रहता है, यह भी सत्य नहीं है। एकान्त दृष्टि से कुछ भी कहना मिथ्या है। इस का सम्यक्-समाधान निश्चय और व्यवहार दृष्टि की अपेक्षा से ही मिल सकेगा। एकान्त निश्चय-वादी भी मिथ्या है, और एकान्त व्यवहारवादी भी। दो में से एक आँख

---

१. समयसार ३८२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
को फोडकर एक आँख से देखने वाले को एकाक्षी या काणा कहते हैं। निश्चय और व्यवहार की दोनों आँखों से देखने वाले को सम्यक्-दृष्टि कहते हैं। निश्चय-दृष्टि से जीव जीव में रहता है, और पुद्‌गल पुद्‌गल में रहता है। जैसे दूध में पानी मिला हुआ है, फिर भी पानी-पानी है, और दूध-दूध है। दूध पानी नहीं बनता, और पानी दूध नहीं बन पाता। इसी कारण वैज्ञानिक प्रक्रिया से मशीन के द्वारा पानी को अलग कर के दूध के तत्त्व को अलग कर लिया जाता है। उस पाउडर में निखालश दूध रहता है। यदि पानी और दूध एक दूसरे के गुणों में मिल गए होते तो उन्हें कदापि पृथक् नहीं किया जा सकता। इसी तरह अध्यात्म-साधना की प्रक्रिया से साधक स्व-स्वरूप को समझ कर जब अपने स्वरूप में स्थित होता है, तो स्व को पर-पुद्‌गल से पृथक् कर लेता है। यदि पुद्‌गल और जीव एक-दूसरे से मिल गए होते तो फिर जीव पुद्‌गलों के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। अतः निश्चय नय से जीव पुद्‌गल में नहीं रहता और पुद्‌गल जीव में नहीं रहते। दोनों अपने-अपने स्वरूप में रहते हैं। व्यवहारदृष्टि से ऐसा कहना गलत नहीं है, कि जीव शरीर में रहता है। कर्म-पुद्‌गलों ने आत्मा को बांध रखा है। यह व्यवहार-पक्ष है और लोक-व्यवहार में ऐसा कहा भी जाता है। वस्तुतः जब तक दोनों का संयोग है, तब तक संसार है, और जब वियोग हो जाएगा, तब ही मोक्ष होगा।

सुख–दुःख :

सुख–दुःख दोनों संकल्प-विकल्प-जन्य हैं। वस्तुतः परम सुख एवं परम आनन्द पदार्थों में नहीं, आत्म-स्वरूप में रमण करने में है। बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग के समय जैसे व्यक्ति के विचार एवं विकल्प रहते हैं, वैसी ही संवेदना उसे होती है। परन्तु जब तक विकल्प बने रहेंगे, तब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तक उसे शान्ति नहीं मिल सकती। एक वार दो चींटियाँ परस्पर मिलीं। एक नमक (Salt) की क्यारी में रहती थी, और दूसरी शक्कर (Sugar) के गोदाम में। पहली ने कहा–बहन यहाँ तो सब कुछ खारा ही खारा है। दूसरी ने कहा–मेरा तो अनुभव यह है, कि सब–कुछ मधुर है मीठा है। पहली ने उसकी बात को स्वीकार नहीं किया। तब दूसरी ने उसे अपने घर आ कर माधुर्य की अनुभूति करने का आमंत्रण दिया। उसने उसका निमन्त्रण मान कर शक्कर के, चीनी के गोदाम में प्रवेश किया और चीनी को चखा, तो उस में खारापन ही लगा। उस ने कहा–तुम कितनी झूठी हो। तुम्हारी चीनी भी तो खारी है। चीनी के गोदाम में रहने वाली चींटी सोचने लगी, कि मुझे चीनी मिठी लगती है, और यह कहती है–मुझे खारी लगती है। वास्तव में भूल कहाँ है, यह देखना चाहिए। उसने उस का मुँह खोल कर देखा तो उस में नमक का टुकडा पडा था। उसने कहा–बहन! चीनी तो मीठी ही है। परन्तु जब तक तू अपने मुंह में से नमक को निकाल कर नहीं फेंकेगी, तब तक वह तुम को मधुर नहीं लग सकती। खारापन चीनी में नहीं, तुम्हारे मुँह में ही स्थित है। वीतराग-प्रभु कहते हैं-जो राग-द्वेष से ऊपर उठ गया हैं, वीतराग भाव में विचरण करता है, उसे सर्वत्र माधुर्य की, परम आनन्द की अनुभूति होती है। विषय–कषाय से युक्त व्यक्ती ही ऐसा कहता है, कि जहां देखों वहाँ दुःख ही दुःख है, सारा संसार कडवाहट से भरा हुआ है। वास्तव में दुःख-सुख पदार्थों में नहीं हैं। भूल तो तुम्हारे में है। जब तक विषय-कषाय का जहर नहीं निकलेगा, तब तक अमृत के स्वाद की अनुभूति कैसे होगी?

पूर्ण कश्यप से किसी ने पूछा–संसार कैसा है? उसने कहा–कटु है, खारा है, दुःखमय है और क्लेशमय है। जब कात्यायन से पूछा, तो उसने बताया–संसार सुखद है, मधुर है, आनन्दप्रंद है और आमोद–

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
प्रमोद से भरा हुआ है। दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से वर्णन करते हैं। एक को संसार दुःख रूप परिलक्षित होता है, तो दूसरे को सुख रूप। भर्तृहरि से भी जब संसार के स्वरूप के विषय में पूछा गया, तो वह भी निर्णयात्मक भाषा में कुछ नहीं कह सका। वह इस बात का अनुभव कर चुका था, कि महारानी पिंगला एक दिन अमृत रूप थी, वही अन्त में विष रूप बन गई। इस लिए उसने इतना ही कहा—

"न जाने संसारे, किममृतमयं, किं विषमयम्।"

भगवान महावीर के सामने जब इस प्रश्न को प्रस्तुत किया गया, तो भगवान महावीर ने कहा—संसार संसार है। वह न दुःख रूप है, न सुख रूप है। वह न तो विष है और न अमृत है। जैसे व्यक्ति के भावों की, विचारों की परिणति होती है, वैसा ही उसे संसार दिखाई देता है। सम्यक्-दृष्टि के लिए वह अमृतमय है, क्यों कि उसकी दृष्टि में अमृत है। और मिथ्या दृष्टि के लिए विष रूप है, क्यों कि उसकी दृष्टि में मिथ्यात्व का जहर भरा हुआ है। अतः भगवान महावीर कहते हैं—यदि तुम्हें बदलना है, सुधारना है, तो स्वयं को बदलो, अपने आपको सुधारो। अपनी कषायों के ताप को शान्त करो। तुम्हें अन्य कोई नहीं तपा रहा, सिवाय तुम्हारे अन्दर रही हुई कषायों के। जैसे अग्नि से परितप्त लोहे के गोले को पानी में छोडने पर वह पानी के बहुत से परमाणुओं को सोख लेता है और कुछ को वाष्प बना कर बाहर निकाल देता है। जब तक वह तप्त रहता है, तब तक पानी में उथल-पुथल मचाता रहता है, उसे तप्त एवं अशान्त बना देता है। उसी तरह जब व्यक्ति राग-द्वेष एवं कषायों से तप्त होता है, तब उसके शरीर में एक विचित्र हलन-चलन उत्पन्न हो जाती है। जब क्रोध उदय में आता है, तब उसकी आँखें लाल हो जाती है, रक्त की गति बढ जाती है, ओष्ठ सूखने एवं फडफडाने लगते हैं, शरीर कांपने लगता है। जब काम-वासना जागृत होती है, तब सारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीर में एक विशेष प्रकार का मंथन शुरू हो जाता है। अतः जब तक कषाय एवं वासना शान्त नहीं होती, तब तक यह चहल-पहल, उतेजना एवं मंथन भी बन्द नहीं होगा। इसलिए शान्ति तब ही प्राप्त होगी, जब व्यक्ति कषायों के ताप से मुक्त होगा।

भेद–विज्ञान :

स्व-स्वरूप को भेद-विज्ञान के द्वारा जाना जा सकता है। स्व और पर के भेद को समझ लेना ही भेद-विज्ञान है। यह दो प्रकार से जाना जा सकता है–विधेय–मार्ग (Positive-way) और निषेध–मार्ग (Negative-way)। मैं जीव हूँ, आत्मा हूँ। क्यों कि मैं चेतन्यमय हूँ, ज्ञान स्वरूप हूँ, ज्ञान के द्वारा ज्ञेय पदार्थों को जानने वाला ज्ञाता हूँ, अक्षय हूँ, अमर हूँ और शुद्ध-बुद्ध हूँ। दूसरा मार्ग यह है, कि मैं जड नहीं हूँ, शरीर नहीं हूँ, इन्द्रिय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ। मैं इन सब जड पदार्थों से भिन्न हूँ। व्यक्ति जो कुछ नहीं है, उसका निषेध कर सकता है। परन्तु वह अपने अस्तित्व का निषेध नहीं कर सकता। इसलिए पर से भिन्न स्व-स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान करना ही भेद-विज्ञान है। और इस से स्व को जानने वाला सम्यक्-दृष्टि है।

जीव के भेद :

स्थानांग सूत्र में कहा है–**एगे आया**–आत्मा एक है। स्वरूप की दृष्टि से आत्मा में कोई भेद नहीं है। परन्तु इसी आगम के आठवें स्थान में आत्मा, को आठ प्रकार का कहा है- द्रव्य-आत्मा, कषाय-आत्मा, योग-आत्मा, उपयोग-आत्मा, ज्ञान-आत्मा, दर्शन-आत्मा, चारित्र-आत्मा और वीर्य-आत्मा। प्रथम कथन शुद्ध आत्म-स्वरूप की अपेक्षा से है, और द्वितीय कथन व्यवहार दृष्टि से है, इसलिए इस में विरोध जैसी बात नहीं है। आत्म-स्वरूप में सिद्ध और संसारी जीवों में कोई भेद नहीं है। दोनों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भेद है—कषाय-रहित और कषाय-सहित का। संसारी जीव राग-द्वेष एवं कषायों से युक्त हैं। पहले से लेकर दसवें गुण स्थान पर्यन्त जीव राग-द्वेष एवं कषाय से युक्त हैं। ग्यारहवें और बारहवें में वीतराग हैं, पर छद्मस्थ-वीतराग हैं। क्यों कि ग्यारहवें में मोहकर्म को उपशान्त कर दिया है, और बारहवें में उसे क्षय कर दिया, इसलिए उन में राग-द्वेष एवं कषाय नहीं है। परन्तु ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय के कारण वे अभी सर्वज्ञ नहीं बन पाए हैं। परन्तु ग्यारहवें गुणस्थान में कषायों को उपशान्त किया है, क्षय नहीं, इसलिए उनका उदय होते ही वे जीव पुनः नीचे गिरते हैं, और यदि संभल न पाए तो प्रथम गुणस्थान में भी जा सकते हैं। परन्तु कषायों का क्षय करके बारहवें गुणस्थान में जाने वाले वीतराग ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म का क्षय करके तेरहवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। वहाँ कषाय का क्षय हो जाता है, इसलिए गिरने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे केवली वीतराग बन जाते हैं। परन्तु उनमें योग एवं भोग शेष हैं—वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्म शेष हैं। इसलिए वे आत्म-स्वरूप में स्थित रहते हुए भी व्यवहार का पालन करते हैं। सर्वज्ञ के लिए रात-दिन का कोई भेद नहीं रहता है। फिर भी वे रात को विहार नहीं करते, रात को आहार-पानी नहीं करते। यह व्यवहार है। वीतराग भी लोक-व्यवहार का पालन करते हैं। भरत को कांच के श्रृंगार भवन में केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया था। उसके लिए लिंग—वेष की कोई आवश्यकता नहीं थी। फिर भी उसने जिन-लिंग को स्वीकार किया। यह व्यवहार मार्ग है। अर्जुन गीता में कृष्ण से यही बात पूछता है—जैसा हम करते हैं, वैसा ही आप करें तो फिर भक्त और भगवान में क्या अन्तर रहेगा? कृष्ण कहते हैं—मैं कल्पातीत हूँ, मेरे लिए कोई नियम नहीं है, फिर भी व्यवहार अशुद्ध न बने, इसलिए मैं नियमों का पालन करता हूँ। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भी कल्पातीत हैं। इनके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निशीथ-व्यवहार आदि छेद-सूत्र नहीं हैं, फिर भी वे व्यवहार का लोप नहीं करते। आज हमें यह भी ज्ञान नहीं है, कि चतुर्थ गुणस्थान भी है या नहीं, और हम बातें करते हैं, चौदहवें की, यह मूर्खता नहीं तो और क्या है? व्यवहार में रहते हुए व्यवहार का उच्छेद करना, विवेक-हीनता है। व्यवहार को छोडना नहीं है, वह तो स्वयं छूट जाएगा। जब आत्मा चौदहवें गुणस्थान में पहुँचती है, तब योगों के छूटते ही समस्त व्यवहार स्वतः ही छूट जाता है। इस प्रकार स्वरूप की अपेक्षा सब आत्माएँ एक-सी हैं। उनमें जो सिद्ध और संसारी का भेद है तथा चौदह गुण-स्थानों का भेद है, वह राग-द्वेष एवं कषाय से रहित एवं कषाय की तर-तमता के कारण है।

इस के अतिरिक्त आगम में जीव के दो भेद किए हैं—सिद्ध और संसारी। संसारी जीव दो प्रकार के हैं-त्रस और स्थावर? त्रस दो प्रकार के हैं-लब्धि त्रस और गति त्रस। जिस के त्रस नाम कर्म का उदय है, उन्हें लब्धि त्रस कहते हैं-दो इन्द्रियाँ वाले, तीन इन्द्रियाँ वाले, चार इन्द्रियाँ वाले, और पाँच इन्द्रियाँ वाले। पञ्चेन्द्रिय में भी तिर्यञ्च और मनुष्य। जिनको स्थावर नाम कर्म का उदय है, उन्हें स्थावर कहते हैं। उन के पाँच भेद हैं-पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति। इन में अग्नि और वायु की योनि स्थावर नाम कर्म के उदय से मिली है, परन्तु इन में गतिशीलता दिखाई देती है, इसलिए इन्हें गति त्रस भी कहा है। इसके अतिरिक्त गति, जाति, इन्द्रिय, पर्याप्ति, संज्ञा आदि के भेद से जीवों के अनेक भेद किए जा सकते हैं। आगम में उसके चौदह भेद एवं पाँचसौ तेसट (५६३) भेद भी मिलते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अजीव तत्त्व

३

जैन-परंपरा में दीर्घ काल से नव-तत्त्व पर विशाल साहित्य लिखा गया है। तत्त्वार्थ-सूत्र, तत्त्वार्थ-भाष्य, उस पर टीकाएँ, नव-तत्त्व, द्रव्य-संग्रह, समयसार आदि ग्रन्थों में विस्तार एवं संक्षेप से नव-तत्त्व का विवेचन उपलब्ध होता है। जैन-साहित्य में तत्त्व के सम्बन्ध में दो विचार-धाराएँ प्रचलित हैं-आगम की और तत्त्वार्थ सूत्र की। आगम में नव-तत्त्व बताए हैं-जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। तत्त्वार्थ सूत्र में सात-तत्त्वों का उल्लेख मिलता है-जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इस में पुण्य-पाप का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है, कि तत्त्वार्थ-सूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति पुण्य और पाप को नहीं मानते। आचार्य उमास्वाति गंभीर विचारक और बहुत बडे तत्त्व-वेत्ता थे। वे पुण्य-पाप को उडा दें, ऐसा नहीं हो सकता। आस्रव कर्म के आने का द्वार है और बन्ध से आगत कर्म बन्धते हैं। शुभाशुभ कर्म आते हैं और उनका शुभ-अशुभ_

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिणामों के अनुसार बन्ध होता है। शुभ पुण्य है और अशुभ पाप है। अतः पुण्य और पाप दोनों का आस्रव एवं बन्ध में समावेश कर लिया। इसलिए उनका स्वतन्त्र रूप से उल्लेख नहीं किया। परन्तु यहाँ नव-तत्त्व का विवेचन चल रहा है, इसलिए मैं नव-तत्त्वों का ही वर्णन करूंगा।

तत्त्व-बोध की आवश्यकता :

नव-तत्त्व में दूसरा तत्त्व अजीव है। संसार में अजीव के साथ आत्मा का सम्बन्ध रहा हुआ है। उसके संयोग से आत्मा में वैभाविक भावों की परिणति होती है, और विभाव दशा के कारण जीव संसार में परिभ्रमण करता है। इसलिए आत्म-स्वरूप का परिज्ञान करना भी आवश्यक है, उसी तरह अजीव-तत्त्व या पुद्गल–द्रव्य का ज्ञान करना भी आवश्यक है। जब तक जीव के साथ अजीव तत्त्व का बोध नहीं होगा, तब तक आत्म-स्वरूप में एवं उससे भिन्न पुद्गल में क्या अन्तर है, दोनों क संयोग से आत्मा किस प्रकार बन्ध को प्राप्त हो कर चार-गति रूप संसार में भटकती है, और दोनों का वियोग होते ही कैसे अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करती है, यह भेद-विज्ञान नहीं होगा। और जब तक भेद–विज्ञान नहीं होगा, तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती और साधक आध्यात्मिक साधना की ओर कदम नहीं बढा सकता।

अजीव-तत्त्व :

अजीव शब्द निषेध वाचक है। जो जीव नहीं है, वह अजीव है। जिसमें उपयोग का, ज्ञान का, चेतना का अभाव है, वह अजीव है। जैन-दर्शन षड्-द्रव्यों में से जीव के अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन पाँच द्रव्यों को अजीव मानता है। षड्-द्रव्यों में काल को छोड कर शेष पाँच द्रव्यों को अस्तिकाय भी कहते हैं। अस्ति का अर्थ है – प्रदेश, और काय का अर्थ है – समुदाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं। आत्मा, धर्म और अधर्म के असंख्यात प्रदेश हैं। आकाश दो प्रकार का माना है—लोक-आकाश और अलोक-आकाश। लोक और अलोक व्यापी संपूर्ण आकाश अनन्त प्रदेशी है, क्यों कि अलोक का अन्त नहीं है। परन्तु लोक-आकाश सान्त है, इसलिए वह असंख्यात प्रदेशी। और पुद्गल अनन्त है। प्रदेश की व्याख्या इस प्रकार की गई है, जितने स्थान को एक परमाणु (Atom) घेर कर रखे उसे प्रदेश कहते हैं। परमाणु (Atom) पुद्गल का शुद्ध (Pure) रूप है। वह पुद्गल (Matter) का सब से अन्तिम भाग है, जिसका कोई खण्ड एवं विभाग नहीं किया जा सकता।

धर्म, अधर्म लोक—आकाश में व्याप्त है। लोक—आकाश (Space) का एक भी प्रदेश ऐसा नहीं है, जहाँ धर्मास्ति-काय और अधर्मास्ति-काय न हो। परन्तु संसार में स्थित जीव के आत्म-प्रदेश शरीर में व्याप्त हैं। फिर उसके असंख्यात प्रदेश क्यों माने गए ? आगम में इस का समाधान इस प्रकार किया गया है, कि तेरहवें गुणस्थान में स्थित केवली के आयु-कर्म और वेदनीय कर्म के कर्म—वर्गणा पुद्गल कम और अधिक रह जाते हैं, तब उन्हें एक साथ क्षय करने के लिए उन्हें समान बनाने के लिए वे आठ समय की केवली समुद्घात करते हैं। उस में वे अपने आत्म-प्रदेशों को संपूर्ण लोक आकाश में फैला देते हैं। उस समय लोक का एक भी आकाश प्रदेश ऐसा नहीं रहता, जिस पर आत्म-प्रदेश न हो। इसलिए आत्म-प्रदेश उतने ही हैं, जितने लोक-आकाश के प्रदेश हैं। इस प्रकार आत्मा, धर्म, अधर्म एवं लोक-आकाश असंख्य प्रदेश से युक्त हैं। काल प्रदेशों के समूह से रहित है। निश्चय दृष्टि से काल एक समय की पर्याय है। और व्यवहार-काल-घड़ी, दिन-रात आदि ढाई द्वीप में हैं, उसके बाहर नहीं। और पुद्गल-परमाणु अनन्त हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रूपी-अरूपी :

अजीव दो प्रकार का है—रूप से युक्त और रूप से रहित। धर्म, अधर्म, आकाश और काल रूप से रहित हैं। इनमें वर्ण, गंध, रस और स्पर्श नहीं होता। इसलिए इनको अरूपी और अमूर्त कहते हैं। और पुद्‌गल वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से युक्त है। इसलिए वह रूप एवं आकारवाला है, उसे मूर्त कहा है। जो चार द्रव्य अमूर्त हैं, इनके गुण भी, उनके पर्याय भी अमूर्त हैं और उनका परिणमन भी अपने अमूर्त गुण एवं पर्यायों में होता है। और जो द्रव्य मूर्त है, उसके गुण एवं पर्याय भी मूर्त हैं और उन का परिणमन भी उन में ही होता है। पांचों अजीव द्रव्यों में पुद्‌गल ही एक ऐसा द्रव्य है, जो मूर्त है, साकार है और रूप-युक्त है। क्यों कि उसमें वर्ण, रूप, रस और गंध में चारों गुण है।

आत्मा से सम्बन्धित शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास, प्राण, मन आदि सब पौद्‌गलिक हैं। शुभ और अशुभ कर्म भी पुद्‌गल हैं, पृथ्वी पानी, वायु, अग्नि, वनस्पति आदि की काया एवं भोग-उपभोग के तमाम साधन पुद्‌गलों से बने हैं। इन्द्रियों से ग्रहण किए जाने वाले जितने भी पदार्थ हैं, वे सब साकार हैं, मूर्त हैं और रूप से युक्त हैं, इसलिए वे पौद्‌गलिक हैं।

कुछ दार्शनिक शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, परन्तु वह आकाश का गुण नहीं, पुद्‌गल की पर्याय है। आकाश अमूर्त है और शब्द मूर्त है। मूर्त कदापि अमूर्त का गुण नहीं हो सकता। और यदि शब्द को अमूर्त मान लें, तो वह फिर इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता। परन्तु शब्द को हम कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते हैं, और वाणी के द्वारा उसका प्रयोग भी करते हैं। और वैज्ञानिक साधनों—रेडियो एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लाऊड–स्पीकर के द्वारा उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर प्रेषित भी करते हैं और टेप–रिकार्ड में उसको संग्रहित करके भी रखते हैं, जिससे जब चाहें तब सुन सकें। इस प्रकार हम देखते हैं, कि शब्द की उत्पत्ति पुद्गल-परमाणुओं से होती है, उसे श्रवणेन्द्रिय द्वारा सुनते हैं और पौद्गलिक वैज्ञानिक साधनों में उसे ग्रहण करके भी रखते हैं। अतः वह मूर्त है। जो मूर्त है, वह पौद्गलिक है। इसलिए शब्द आकाश का गुण नहीं, पुद्गल का परिणाम–पर्याय है। उस की परिणति पुद्गल-पर्यायों में ही होती है।

परमाणु :

पुद्गल का शुद्ध रूप परमाणु है। जिस का विभाग न हो सके, वह परमाणु है। परमाणु शाश्वत है, नित्य है, और ध्रुव है। पुद्गल की पर्यायें बदलती हैं। जैसे कागज के ढेर को आग लगाने पर कागज नष्ट हो गए और राख उत्पन्न हो गई, परन्तु इस उत्पत्ति और विनाश में, अथवा कागज की पर्यायों के नाश और राख की पर्यायों की उत्पत्ति में परमाणु अपने रूप में विद्यमान हैं। पर्यायें बदल गईं, नाम और रूप–रंग बदल गया, परन्तु परमाणु में अन्तर नहीं आया। इसलिए पुद्गल–द्रव्य परमाणु के शुद्ध रूप में सदा-सर्वदा बना रहता है। वह शब्द रहित है। शब्द की उत्पत्ति दो पुद्गल स्कंधों के संघर्ष से होती है। परमाणु स्कंध से रहित है, इसलिए वह शब्द से भी रहित है। वह एक है, फिर भी मूर्त है। क्यों कि उस में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श हैं। ये चारों गुण उस के एक प्रदेश में रहते हैं। इसलिए परमाणु मूर्त है, साकार है। पुद्गल–स्कंधों का निर्माण परमाणुओं के समूह से होता है। यदि परमाणु मूर्त नहीं होगा, तो उससे बने हुए पुद्गल-स्कंध भी मूर्त नहीं हो सकते। क्योंकि अमूर्त द्रव्य मूर्त-द्रव्य नहीं बना सकता और मूर्त अमूर्त के रूप में परिणत नहीं हो सकता। क्यों कि एक द्रव्य अपने स्वभाव को छोड कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर-भाव रूप दूसरे द्रव्य में परिणत नहीं होता। जैसे—आम्र के बीज से आम्र का और बबूल के बीज से बबूल का वृक्ष ही अंकुरित, पल्लवित एवं फलित होगा। ऐसा कदापि नहीं होता, कि आम्र के बीज से बबूल का वृक्ष और बबूल के बीज से आम्र का वृक्ष खडा हो जाए। इसी प्रकार परमाणु स्वयं मूर्त है, इसलिए अनन्त-अनन्त परमाणुओं के सुमेल से बना हुआ पुद्गल—स्कंध मूर्त है।

जैन-दर्शन इस बात को स्पष्ट करता है, कि अज्ञानी व्यक्ति जिस शरीर पर, जिन पुद्गलों पर एवं धन-वैभव आदि सुख-साधनों पर आसक्त है एवं उनको अपना मानता है, वह सब पुद्गलों का खेल है। यह सब पर-द्रव्य है। पर में जो स्व की बुद्धि एवं अपनत्व का अहंकार होता है, उसी के कारण व्यक्ति संसार में परिभ्रमण करता है। आयु कर्म की समाप्ति के साथ जब वर्तमान में प्राप्त स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है, तब आत्मा के साथ कार्मण-वर्गणा के पुदगलों के निर्मित कार्मण (सूक्ष्म) शरीर साथ रहता है, और उसके माध्यम से आत्मा आवद्ध कर्मों के अनुसार अपने गन्तव्य स्थान पर जा कर कार्मण शरीर से पुनः उस गति के स्थूल शरीर को ग्रहण करती है। अतः जब तक हम को आत्मा के स्व और पर स्वरूप का भेद ज्ञान नहीं होगा, और पर से ममत्व हटा कर हम स्व में स्थित नहीं होगें, तब तक हमें पूर्ण-शान्ति नहीं मिल सकती। इसलिए जीव के साथ अजीव के स्वरूप को समझ कर अपने आप में स्थित होना ही आध्यात्मिक-साधना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुण्य-तत्त्व

४

नव-तत्त्व में तीसरा पुण्य-तत्त्व है। आगमों में पुण्य की व्याख्य बहुत विस्तार से की है। भारतीय-संस्कृति के सभी विचारकों ने पुण्य-पाप के सम्बन्ध में बहुत-कुछ लिखा है। मीमांसक-दर्शन ने पुण्य-साधना के लिए बहुत जोर दिया है। उसके विचार से पुण्य के द्वारा स्वर्ग में सुखों को प्राप्त करना और उनका उपभोग करना, यही जीवन का ध्येय है। परन्तु जैन-दर्शन पुण्य को इतना महत्त्व नहीं देता। जिन व्यक्तियों को आत्म-स्वरूप का यथार्थ-बोध नहीं है और जो व्यक्ति धर्म के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, वे ही ऐसा कहते हैं, कि पुण्य सुशील हैं और पुण्य-साधना ही सब-कुछ है। परन्तु जैन-दर्शन कहता है, कि पुण्य संसार में ही रोक रखने वाला है। वह आत्मा को संसार में बान्धने वाला है, मुक्त करने वाला नहीं। जैसे पाप बन्धन है, वैसे ही पुण्य भी बन्धन है। पुण्य में अन्तर इतना ही है, कि सुहावना लगता है। लोहे की बेडी काली होने से भद्दी लगती हैं, और सोने की बेडी चमकदार होने से सुहावनी लगती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु स्वर्ण की बेडी में चमक-दमक होने पर भी वह है तो बन्धन रूप ही। वह भी व्यक्ति को बान्ध कर ही रखती है। तलवार स्वर्ण की बनी हुई है, इतने मात्र से उसमें कोई अन्तर नहीं आता। क्यों कि स्वर्ण की होने पर भी वह प्राण-नाशक ही है। इसी प्रकार पुण्य भी व्यक्ति को संसार बन्धन में बांधता है। इसलिए परमार्थ दृष्टि से, निश्चय नय से पुण्य सुशील नहीं; कुशील है, उपादेय नहीं, हेय है। इसलिए पुण्य में आसक्त बनना, उस में राग-भाव रखना एवं उस का ही संसर्ग करना संसार का कारण है। केवल पुण्य का संग्रह करने वाला अथवा परमार्थ दृष्टि से स्व-स्वरूप से दूर रह कर बाह्य क्रिया-काण्ड में ही सब कुछ मान कर आसक्त रहने वाला निर्वाण-पद को, सिद्धत्व के लाभ को प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए जैन-धर्म का सदा से यह उद्घोष रहा है—अध्यात्म-साधना का उद्देश्य पुण्य नहीं है। पुण्य प्राप्ति की भावना से निदान पूर्वक की जाने वाली साधना आत्म-साधना नहीं है।

पुण्य की परिभाषा :

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है—"शुभः पुण्यस्य" पुण्य शुभ है, उसका फल अच्छा मिलता है। यह मैं आपको पहले बता चुका हूँ, कि जीव का लक्षण उपयोग है। उपयोग शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का होता है। आत्मा का स्व-स्वभाव में रहना शुद्ध-उपयोग है, और विभाव में रहना अशुद्ध उपयोग है। वीतरागता एवं समभाव में रहना शुद्ध उपयोग है, और राग-द्वेष की वैभाविक परिणति में परिणत होना अशुद्ध-उपयोग है। शुद्ध-उपयोग आत्मा का स्वभाव है, और अशुद्ध-उपयोग विभाव है। फिर भी रहता जीव में ही है। क्यों कि अजीव उपयोग शून्य है। उसमें न शुद्ध-उपयोग है और न अशुद्ध-उपयोग। परन्तु पुद्गल के साथ संयोग सम्बन्ध होने से कर्म से आबद्ध जीव विभाव में भी परिणत होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसी को अशुद्ध-उपयोग कहते हैं। वह शुभ भी होता है, और अशुभ भी होता है। जो शुभ अशुद्ध-उपयोग है, उसी को पुण्य कहते हैं।

राग-द्वेष :

जैन-दर्शन में राग को भी बुरा कहा है, और द्वेष को भी। दोनों संसार बढाने वाले हैं। निश्चय दृष्टि एवं परमार्थ-दृष्टि से दोनों त्याज्य हैं। दोनों का परित्याग किए बिना जीव कर्म-बन्धन से मुक्त हो नहीं सकता। परन्तु व्यवहार-दृष्टि से राग-द्वेष एकान्त रूप से बुरे नहीं, अच्छे भी है। इसलिए राग-द्वेष को शुभ भी कहा है। शुभ राग-द्वेष पुण्य के कारण हैं। एक व्यक्ति विषय-वासना की इच्छा एवं आकांक्षा को परिपूर्ण करने के लिए स्त्री पर अनुराग रखता है। और दूसरा व्यक्ति किसी बीमार एवं रोग से संतप्त स्त्री के रोग एवं संताप को दूर करने के लिए विषय-वासना की दृष्टि से नहीं, बल्कि उसको स्वस्थ करने के लिए प्रेम-स्नेह के साथ सेवा करता है। राग दोनों ओर है, परन्तु दोनों में भावना का अन्तर है। पहला राग वासना की कालिमा से अनुरंजित है, तो दूसरा राग सेवा की शुभ भावना से उज्ज्वल है। एक में वासना की दुर्गन्ध है, तो दूसरे में सेवा की सुगन्ध है, कर्तव्य-पालन की खुशबू है।

एक व्यक्ति हजारों-लाखों रुपये का दान देता है, परन्तु साथ में उस से बडा स्वार्थ साधना चाहता है। सरकारी कोष में—बाढ पीडितों एवं अन्य दुःखी व्यक्तियों के लिए लाख रुपये दे कर दस लाख इन्कमटैक्स बचाना चाहता है या दस-बीस लाख का कोटा प्राप्त करना चाहता है। दूसरा व्यक्ति बिना किसी आकांक्षा के केवल किसी के दुःख को दूर करने के लिए हजार-दो हजार रुपये के ममत्व का त्याग करता है। दोनों में अच्छा वही है, जिसमें थोडा दे कर अधिक पाने की आकांक्षा नहीं है। वास्तव में वस्तु का या धन-सम्पत्ति का देना ही दान नहीं है, यह तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एक व्यवहार है। दान है–ममत्व का, अहंकार बुद्धि का, अपनत्व की भावना का एवं आसक्ति का त्याग करना।

इस प्रकार दया, दान, तप, जप, धर्म, गुरु एवं देव पर अनुराग रखना, शुभ राग है, पुण्य है। है यह भी एक तरह का कांटा, परन्तु पाप के कांटे को निकालने वाला है। कांटा कांटे से निकाला जाता है, परन्तु कांटा निकालने के बाद कांटे को कोई जेब में नहीं रखता, बल्कि फैंक देता है। इसी प्रकार पुण्य के कांटे से पाप का कांटा निकालना अच्छा है, परन्तु उस को पकड के रखना अच्छा नहीं है। उसें कांटा समझ कर छोडने का प्रयत्न करें।

राग की तरह द्वेष भी शुभ होता है। किसी व्यक्ति से द्वेष करना बुरा है, पतन का कारण है। परन्तु दुर्गुणों से बचने के लिए उनकी उपेक्षा करना शुभ है। घृणा करना ही है, तो व्यक्ति से नहीं, दुर्गुणों से, विकारों से, विषय-वासनाओं से करें। इस प्रकार दुर्गुणों से द्वेष करना शुभ है, और आचार्यों ने इसे पुण्य कहा है। यह आत्मा का स्वभाव नहीं, विभाव है, परन्तु विभाव में अशुभ नहीं, शुभ है।

पुण्य की मान्यता :

पुण्य की मान्यता में जैन-विचारकों में एक मत नहीं हैं। इस मान्यता भेद के कारण साम्प्रदायिक भेद भी खडे हो गए हैं। एक सम्प्रदाय की पुण्य–पाप की मान्यता इतनी विचित्र है, कि वह किसी के साथ नहीं मिलती है। पुण्य के सम्बन्ध में तीन पक्ष हैं–एक पक्ष पुण्य को धर्म मानता है, दूसरा शुभ मानता है और तीसरा पक्ष पुण्य को अशुभ मानता है। तृतीय-पक्ष कहता है–तुम किसी बुभुक्षित व्यक्ति की भूख शान्त करते हो, प्यासे की प्यास बुझाते हो, तो यह कार्य पापमय है। वस्तुतः पुण्य न धर्ममय है, न पापमय है। वह न तो शुद्ध है और न अशुभ है, प्रत्युत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह शुभ क्रिया है। वास्तव में जब व्यक्ति निज शक्ति का शुभ भाव से शुभ कार्य में उपयोग करता है, तब पुण्य होता है। इसलिए उसे अशुभ कहना भी गलत है, और शुद्ध कहना भी। वह शुद्ध इसलिए नहीं है, कि वह राग-भाव से युक्त है। पुण्य का अर्थ इतना ही है, कि जिससे अनुकूल साधन मिले, वह पुण्य।

कुछ लोगों ने यह धारणा बना ली है, कि धन-सम्पत्ति पुण्य का कारण है, पुत्र पुण्य का कारण है। परन्तु यथार्थ में देखा जाए तो पुण्य पुत्र-पुत्री में एवं धन-वैभव में नहीं है। यदि पुत्र पुण्य का फल है, तो राज-गृह के शास्ता, भगवान महावीर के भक्त श्रेणिक से पूछो, कि कोणिक के जन्म से तुम पुण्यशाली बने या पापशाली? वह यही कहेगा कि कोणिक का जन्म मेरे पाप के कारण हुआ। जिसने राज्य के प्रलोभन मे फँस कर अपने पिता को जेल में बन्द कर दिया। भारत के सम्राट शाहजहाँ के सात पुत्र और एक पुत्री जहाँनारा थी। उसके पुत्र औरंगजेब ने राज्य पर अधिकार करने के लिए शाहजहाँ को शासन से हटा कर जेल के सीखचों में कैद कर दिया। और उसकी पुत्री जहाँनारा ने भोग विलास-एवं मौज-शौक को छोड कर आजीवन अविवाहित रह कर अपने पिता की अन्तिम साँस तक सेवा की। जरा सोचिए पुत्र पुण्य का कारण है या पुत्री? वस्तुतः पुण्य का कारण वही है, जो व्यक्ति को शान्ति दे, सुख दे एवं सब तरह से सहयोगी बने।

धन-वैभव का होना या नहीं होना पुण्य-पाप की निशाणी नहीं है। साधु के पास एक नया पैसा नहीं होता। क्या साधना-जीवन पाप का परिणाम है? और बहुत से पैसेवाले व्यक्ति अन्याय-अत्याचार एवं शोषण के द्वारा धन के अम्बार लगाते हैं और रात-दिन भोग-विलास एवं दुर्व्यसनों में डूबे रहते हैं। क्या पैसा होने के कारण वे पुण्यशाली हैं? बाह्य वैभव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
के गज से पुण्य को नापना भयंकर भूल है। आगम में कहा है—व्यक्ति को जो साधन प्राप्त हुए हैं, यदि उनसे व्यक्ति मन में शुभ भावना उद्बुद्ध होती है, और अच्छे कार्य करने की वृत्ति जागृत होती है, तो वह साधन पुण्यानुबन्धी पुण्य है, अर्थात् पुण्य से प्राप्त हुआ है, और उससे और पुण्य का ही अनुबन्ध हो रहा है। परन्तु जो साधन किसी के हित में, भलाई में नहीं, प्रत्युत किसी का बुरा करने में लगते हैं, विषय-वासना एवं स्वार्थ साधने में लगते हैं, तो वे पापानुबन्धी पुण्य हैं। उससे पुण्य का नहीं, पाप का संग्रह होता है। कहने का तात्पर्य यह है, कि विचारशील साधक अपनी दृष्टि जड-पदार्थों से, धन-वैभव से हटा कर शुद्ध आत्म स्वरूप की ओर लगानी चाहिए। धन से न कभी इच्छा की पूर्ति हुई है, और न होने वाली है।

सन्त और सम्राट :

आगम के पृष्ठों को खोल कर पढ़िए—एक ओर सन्त है, दूसरी ओर चक्रवर्ती सम्राट। एक ओर सर्वस्व का त्यागी है, और दूसरी ओर सब से बडा भोगी। संसार में चक्रवर्ती सम्राट से अधिक अन्य कोई भी व्यक्ति वैभवशाली नहीं है। अब दोनों में बडा कौन है—सन्त या सम्राट? सम्राट के पास तलवार है, बम्ब है, धन-वैभव है, पर सन्त के पास आत्म-साधना के अतिरिक्त बाह्य वैभव कुछ नहीं है। फिर भी सन्त सम्राट से महान् है। सम्राट भी सन्त के चरणों में मस्तक झुकाता है। क्यों कि सन्त ने इच्छा एवं आकांक्षा पर विजय प्राप्त कर ली है। इसलिए भारतीय-संस्कृति त्याग को महत्त्व देती है, भोग को नहीं। वह त्याग की संस्कृति है। वास्तव में भारतीय-संस्कृति सन्त-संस्कृति है।

महान् विजेता सिकन्दर :

भारत पर विजय प्राप्त कर के वापिस लौटते समय सिकन्दर के मन में विचार आया, कि मेरे गुरु अरस्तू ने मुझे कहा था—आप को भारत में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रत्न, हीरे, पन्ने, स्वर्ण आदि मिलेंगे, परन्तु वह मेरे उपयोग में आने वाले नहीं है। वहाँ आध्यात्मिक साधना में संलग्न ऋषि-मुनि भी रहते हैं। आप एक ऋषि को मेरे लिए साथ में ले आएँ। उसने एक ब्राह्मण से पूछा, कि मुझे ऋषि चाहिए, कहाँ मिलेगा? उसने कहा यहाँ ऋषि-मुनि जंगलों में, बनों में, गिरि–कन्दरोओं में आत्मसाधना करते हैं। वे जंगलों में मिलेंगे, शहरों में नहीं। मैंने राजगृह देखा है। भगवान महावीर के युग में जनता सन्तों की वाणी सुनने वैभार-गिरि पर जाती थी। द्वारिका में भगवान अरिष्टनेमि का प्रवचन सुनने शहर से बहुत दूर सहस्र आम्रवन में जाते थे। पहले जन-जन के मन में सुनने की भूख थी, इसलिए वह जंगलों में भी जा पहुँचती थी। आज तो आप इतना सुन चुके हैं, कि शहर के बाहर तो क्या, शहर में भी सुनने के लिए आने को फुरसत नहीं मिलती।

मैं सिकन्दर की बात कह रहा था। उस के मन में मुनि को देखने की प्रवल इच्छा थी। वह जंगल में गया, और एक सन्त के पास जा पहुँचा। उसे अपने सामने देख कर भी सन्त न तो उठा, और न उसने उसका अभिवादन ही किया। तब उसने कहा—मैं विश्व-विजेता सम्राट सिकन्दर हूँ।

मुनि—तुम चाहे जो कुछ हो, उससे मुझे कोई प्रयोजन नहीं है। तुम मेरे पास क्यों आए हो?

सिकंदर—मैं आपकी सेवा करना चाहता हूँ।

मुनि—मुझे सेवा की आवश्यकता नहीं है।

पर सिकन्दर मुनि के त्याग एवं साधना से इतना प्रभावित हो गया, कि वह उस के पीछे—पीछे फिरने लगा। एक दिन ऋषि ने प्रसन्न मुद्रा में पूछा—तुम मुझसे चाहते क्या हो?

मुझे ऐसा मंत्र दो, जिससे मैंने आज तक जो-कुछ प्राप्त किया है, उसमें सदा अभिवृद्धि होती रहे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तुम्हारे मन में इतना पाने पर भी तृष्णा एवं कामना अभी भी शेष है। याद रखो, तृष्णा की आग में सब वस्तुएँ भस्म हो जाती हैं। तुम अभी और देशों को जीतना चाहते हो, और धन प्राप्त करना चाहते हो? उस-के लिए मंत्र तो है, परन्तु उस के साथ एक शर्त भी है।

कहिए, क्या शर्त है? मैं, एक-दो नहीं, शत-शत शर्तें पूरी करने को तैयार हूँ।

ऋषि अपने झोपडे में गए। एक मृत व्यक्ति की खोपडी निकाल लाए। और कहा—अपने स्थान पर जाओ, और इसे शीघ्र गेहूँ से भर कर ले आओ।

वह अपने सैनिक-शिविर में गया, और उसे गेहूँ से भरने लगा। एक-दो किलो नहीं, कई बोरियें, गेहूँ की उसमें डंडेल दी, फिर भी वह तो खाली ही रही। आखिर हार कर वह ऋषि के पास गया, और कहा, कि मैं आप के द्वारा ली गई परीक्षा में फेल हो गया।

तब ऋषि ने कहा—सम्राट! जब तुम इस छोटी-सी खोपडी को ही नहीं भर सके, तब तृष्णा के गहन खड्डे को कैसे भरोगे? वह तो इससे भी गहरा है। जितना तुम ने पाया है, उस से सौ-गुना अधिक राज्य एवं वैभव भी मिल जाए, तब भी तृष्णा शान्त नहीं हो सकती। सागर में वर्षों से सैकडों नदियाँ आ कर गिर रही हैं, फिर भी वह कभी नहीं भरता। श्मशान में हजारों-लाखों शव जलाए जा चुके हैं, फिर भी उस की प्यास नहीं बुझती। तुम दिन में चार-चार बार खाते हो, फिर दूसरे दिन सुबह पेट खाली ही मिलता है। इसी तरह तृष्णा की भूख कभी नहीं मिटती। वह तो आकाश के समान अनन्त है। इसलिए धन को पुण्य का कारण समझ कर उस की आकांक्षा एवं तृष्णा रखना भयंकर भूल है। यह साधना का पथ नहीं है।

मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है—पुण्य व्यक्ति के शुभ भाव में है। पदार्थ जड हैं। वे अपने आप में पुण्य नहीं है। अतः पदार्थों को पुण्य कहना भूल है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पाप - तत्व

५

भारतीय - दर्शन - शास्त्र एवं धर्म - शास्त्र में पाप के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। भारतीय - संस्कृति के सभी विचारकों ने पाप पर अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। पाप को सबने बुरा कहा है, अशुभ कहा है, मनुष्य को पतन के महागर्त में गिराने वाला कहा है। पाप नरक का द्वार है। वह व्यक्ति को कभी भी ऊपर नहीं उठने देता। उसे सन्मार्ग से भटका देता है। उसके विकास के द्वारों को अवरुद्ध कर देता है, बन्द कर देता है। इसलिए सभी धर्म-शास्त्रों एवं धर्मोपदेशकों ने एक ही बात कही है, कि मानव को सदा-सर्वदा पाप से, दुष्कर्मों से बच-कर रहना चाहिए। उसे पाप के पथ पर कदम नही रखना चाहिए। क्यों कि पाप का पथ अंधकार से, सघन अंधकार से परिपूरित है—Sinful way is full of darkness.

पाप कहाँ है ? :

यह सत्य है, कि पाप की कालिमा मनुष्य के जीवन को अंधकारमय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं काला बना देती है। परन्तु प्रश्न यह है, कि पाप है क्या ? पाप कहाँ रहता है ? इस के समाधान में कुछ विचारकों ने कहा—स्त्री के सौन्दर्य को देखना पाप है। सिनेमा-नाटक देखना पाप है। कान से मधुर संगीत सुनना पाप है। अमुक वस्तु खाना पाप है। अमुक तरह का कार्य करना पाप है। इन्द्रियों को अपने-अपने विषय की ओर लगाना पाप है, और उनको रोक कर रखना धर्म है, पाप से बचना है। इसलिए कुछ विचारकों ने यहाँ तक सोचना शुरु किया, कि यदि आँखें स्त्रीके सौन्दर्य को देख रही हैं, तो उनको फोड दो। कान में राग भरे शब्द जा रहे हैं, तो कानों के खड्डों को कपडे से ठूस कर बन्द कर दो। इसी तरह अन्य इन्द्रियों को भी नष्ट कर दो, जिससे न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी।

जैन-दर्शन ने भी पाप से बचने की बात कही है। व्यक्ति को जीवन का विकास करने के लिए सब से पहले पाप का परित्याग करना चाहिए। परन्तु इसके लिए जैन-दर्शन ने एवं जैन-परंपरा के विचारकों ने इन्द्रियों के नाश करने की बात नहीं कही। क्यों कि पाप इन्द्रियाँ एवं इन्द्रियों के विषयों में नहीं है। इसके लिए पाप का परित्याग करने के पहले यह जानना एवं समझना आवश्यक है, कि पाप कहाँ है ? और उस का बन्ध किस प्रकार होता है ?

आँखों के सामने सुन्दर रूप आता है, और वे उसको देखती हैं। कर्ण-कुहरों से टकरा कर मधुर-ध्वनि कानों में प्रवेश करती है। जिह्वा पुद्गलों का, खाद्य–पदार्थों का स्वाद चखती है। नाक सुगन्ध एवं दुर्गन्ध को ग्रहण करता है। शरीर सुकोमल एवं कठोर पदार्थों का स्पर्श करके कोमलता और कठोरता को ग्रहण करता है। क्यों कि प्रत्येक इन्द्रिय का यह अपना स्वभाव है, कि वह अपने विषय को ग्रहण करती है। परन्तु देखने, सुनने, चखने, सूंघने एवं स्पर्श करने मात्र से पाप नहीं लगता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्यों कि ये सब पदार्थ जड हैं। और इनको ग्रहण करने वाली इन्द्रियाँ भी पौद्गलिक। पुद्गल के द्वारा पुद्गल को ग्रहण करना पाप नहीं है। पाप और पुण्य पुद्गलों में नहीं है। जड में जडत्व रहता है, चेतना नहीं। यदि पुद्गल से पुद्गल का संयोग होना या इन्द्रियों द्वारा अपने विषय को ग्रहण करना पाप है, ऐसा मान लिया जाए, तो दुनिया में कोई भी व्यक्ति निष्पाप नहीं रह सकेगी। तेरहवें गुणस्थान में स्थित वीतराग-सर्वज्ञ-देव भी देवों द्वारा रचित समवशरण में स्वर्ण एवं स्फटिक रत्न के सिंहासन पर बैठ कर प्रवचन देते हैं, देवांगनाएँ एवं देव उनके सामने नृत्य एवं संगीत प्रस्तुत करते हैं। उन की आँखों के सामने रूप भी आता है, कानों से मधुर संगीत की ध्वनि का स्पर्श होता है, शरीर स्वर्ण सिंहासन का स्पर्श करता है। क्या इससे उनको पाप लगता है? नहीं। क्यों कि इन्द्रियों से पदार्थों का संयोग होना, इतना ही पाप नहीं है। वीतराग को पाप-पुण्य का बन्ध नहीं होता। क्यों नहीं होता? इस का कारण यह है, कि उन में राग-द्वेष नहीं है।

इससे यह स्पष्ट हो गया, कि पाप पदार्थों में नहीं, राग-द्वेष में है। मैं आपको यह बताना चाहता हूँ, स्त्री के या अन्य किसी पदार्थ के सौन्दर्य को देख कर, यदि आप के मन में वासना जागृत होती है, उस के प्रति आसक्ति एवं राग-भाव उत्पन्न होता है, अथवा किसी कुरूप स्त्री एवं पदार्थ को देख कर उसके प्रति मन के किसी भी कोने में द्वेष भाव जागृत होता है, घृणा, नफरत एवं तिरस्कार की भावना उत्पन्न होती है, तो वह पाप है। इन्द्रियों द्वारा अपने-अपने विषय को ग्रहण करते समय जब तक उन के साथ मन का संयोग नहीं होता, राग-द्वेष के परिणाम नहीं होते, तब तक पाप नहीं लगता। देखने मात्र से पाप नहीं बंधता है। पाप का बन्ध विषय-वासना, विकार-भावना, भोगेच्छा, आसक्ति एवं राग-द्वेष के परिणामों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से होता है। इसलिए इन्द्रियों को मारने से, नष्ट करने से समस्या का हल होनेवाला नहीं है। क्यों कि वासना, तृष्णा, आकांक्षा एवं भोगेच्छा इन्द्रियों में नहीं, मन में है। इसलिए वासना पर, इच्छाओं पर एवं तृष्णा पर कन्ट्रोल करना सीखो। फिर तुम को पाप नहीं लगेगा। एक पाश्चात्य विचारक ने भी कहा है—यदि तुम्हें पाप से, पतन से बचना है, तो वासना और विकारों पर अधिकार करो, अन्यथा वे तुम्हारे पर शासन करेंगे—

"Govern your passions, otherwise they will govern you." —Horace.

स्वामी शिवानन्द ने भी कहा है—आकांक्षा एवं तृष्णा ही जन्म-मरण की मूल जड है—

"Desire is the root-cause of birth and death."

मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि पाप पदार्थों में नहीं, परन्तु राग-द्वेष एवं तृष्णा में है। इसलिए केवल पदार्थों का त्याग करना ही त्याग नहीं है, त्याग है—पदार्थों की आसक्ति का, पदार्थों के ममत्व का, पदार्थों पर रही हुई वासना एवं विकारी भावना का। और यह त्याग ही आदर्श त्याग है, जो व्यक्ति को पाप से बचाता है, घोर-पतन से उस की रक्षा करता है, और अंधकार से उस का संरक्षण करता है।

पाप और विवेक :

आगम में भगवान महावीर ने कहा है—साधक तू अपनी क्रिया का परित्याग मत कर। यह मत सोच, कि चलने से पाप लगता है, तो आगे बढते कदमों को रोक कर खडा हो जाऊं। खडा रहने से पाप लगता है, तो बैठ जाऊं। बैठने से पाप लगता है, तो सो जाऊं, लम्बा लेट जाऊं। बोलने से पाप लगता है, तो मौन धारण कर लूं। और खाने से पाप लगता है, तो खाना-पीना बन्द कर के अनशन-व्रत ग्रहण कर लूं। यह पाप से

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वचने का रास्ता नहीं है। जब तक योग है, तब तक क्रिया बन्द नहीं हो सकती। तू शरीर की गति को, वाणी की शक्ति को थोडे समय के लिए रोक भी सकता है, परन्तु मन की गति को रोकने में तू समर्थ नहीं है। शरीर निष्क्रिय किया जा सकता है, परन्तु मन एक समय के लिए भी निष्क्रिय नहीं रहता। इस लिए योगों की गति को मत रोक, परन्तु मन की दिशा को बदल दे। फिर जिस समय चलने की आवश्यकता है उस समय कदम बढाता चल। जिस समय खडा रहना है, खडा रह। जब बैठना एवं शयन करना आवश्यक प्रतीत हो, तब बैठ जा या सो जा। जब बोलने की एवं खाने की आवश्यकता हो, तब बोल और भोजन कर। इन क्रियाओं को रोकने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु आवश्यकता इस बात की है, कि जो कुछ करे वह जागृत हो कर कर, विवेक एवं यतना के साथ कर। विवेक एवं यतना की आँख को खोल कर कार्य करेगा, तो तुझे पाप-कर्म का बन्ध नहीं होगा[1]। जहाँ विवेक है, ज्ञान है, वहाँ पाप नहीं लगता, पाप का बन्ध नहीं होता। जहाँ विवेक, यतना एवं ज्ञान की दृष्टि नहीं है, वहीं पाप है, वहीं पतन है। यदि पाप से बचना है, तो क्रिया से नहीं, अविवेक से बचो, अज्ञान से दूर रहो और अयतना का परित्याग करो।

पाप और अंधकार (अज्ञान) :

तृष्णा, वासना, आकांक्षा एवं राग-द्वेष मोह जन्य है। मोह दशा में अज्ञान भी रहता है। जब तक दर्शन मोह का उदय भाव रहता है, तब तक सम्यक् ज्ञान नहीं होता। सम्यक् ज्ञान के अभाव में पाप का अंधेरा भी दूर नहीं होता। पाप एक प्रकार का अंधेरा है। मानव मन में पाप की

---

१. दशवैकालिक सूत्र, ४, ८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वासना तभी जागृत होती है, जब ज्ञान का, विवेक का ज्योतिर्मय दीप बुझ जाता है। और तन से भी व्यक्ति जब पाप-कर्म करने को प्रवृत्त होता, तब वह ऐसे स्थान को खोजता है, जहाँ दूसरा देख न सके। पाप कार्य सदा अंधेरे में या लुका-छिपा कर किया जाता है। पाप करते समय एवं करने के बाद व्यक्ति सदा इस बात से डरता रहता है, कि वह छिप कर किया गया कार्य प्रकाश में, दूसरे की जानकारी (Knowledge) में न आ जाए। इसलिए जिस जीवन में अंधेरा है, अज्ञान है, अविवेक है, वहाँ पाप है। इसलिए कर्म से नहीं, अज्ञान से बचो।

एक लोक-कथा :

व्यक्ति अंधकार से घबराता है, और वह अंधेरे में एक प्रकार की घुटन महसूस करता है। परन्तु अंधकार को भले ही वह जीवन में रहा हुआ अज्ञान का अंधेरा हो या प्रकाश के अथवा सूर्य के अभाव से होनेवाला अंधेरा हो, उसे धक्के दे कर दूर नहीं किया जा सकता। उसे फैंका नहीं जाता, बदला जाता है।

उस युग की एक कहानी है, जब मनुष्य को अग्नि की शक्ति का एवं उससे प्राप्त होने वाली ज्योति का पता नहीं था। इसलिए अंधेरी रातों में लोगों को बहुत दुःख होता था। उन्होंने बहुत प्रार्थनाएँ की फिर भी अंधेरा दूर नहीं हुआ। एक नौजवान विचारक ने कुछ सोच कर कहा—हम अंधेरे को टोकरियों में भर कर फैंकना शुरू करें। धीरे-धीरे अंधेरा कम होता जाएगा, और एक दिन हम उस की घुटन से मुक्त हो जाएँगे। लोगों को उस का तर्क एवं उस की युक्ति अच्छी लगी। उन्हों ने टोकरे भर-भर कर अंधेरे को खड्डों में डालना शुरू किया। परन्तु प्रातः जब खड्डों को देखा तो वहाँ कुछ नहीं था, और रात को घरों एवं गलियों में देखा तो अंधेरा भरा पडा था। लोग समझ नहीं पा रहे थे, कि क्या करें?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु अंधेरे को फेंकने की परंपरा पड गई, इसलिए हर व्यक्ति कम से कम एक टोकरी अंधेरा तो फेंक ही आता।

उस गाँव के युवक का एक विद्याधर की लडकी से प्रेम हो गया, और उसने उससे विवाह कर लिया। नव-वधू जब घर में आई, तो प्रथम दिन उसे भी एक टोकरी से अंधकार को फेंकने का आदेश मिला। यह सुनते ही वह विद्या की देवी अपने सास-ससुर की ओर देखने एवं हंसने लगी। और उसने अपने साथ लाए हुए सामान में से रुई निकाल कर उसकी वत्ती बनाई, एक कटोरे में उसे रखा, और उस को तेल से भर दिया। फिर दो पत्थरों को टकरा कर उसकी रगड से उत्पन्न हुई आग को उस वत्ती से छुआ दिया। लोग आश्चर्यान्वित दृष्टि से देखते रहे — आग उत्पन्न हुई, दिया जल कर ज्योति फैला रहा था, और अंधेरा वहाँ से नव-दो-ग्यारह हो गया था। इस आविष्कार एवं विद्या के प्राप्त होते ही लोगों ने अंधेरे को फेंकने की मूर्खता करना छोड दिया।

आज व्यक्ति पाप के अंधेरे से डरता है। वह उसे दूर करना चाहता है। उसको फैंकने के लिए आंखें बन्द करता है, खाना छोडता है, कानों को बन्द करता है, और अनेक तरह के जड-क्रिया-काण्डों, हठ योगों का सहारा लेता है। वह केवल बाह्य एवं जड-साधनों के द्वारा पाप के अंधेरे को भगाना चाहता है। परन्तु वह ऐसे फेंकने की वस्तु नहीं है। आगम में बताया है, कि पाप को दूर करना हो तो ज्ञान एवं विवेक के दीप जलाओ। यदि बाह्य क्रियाएँ ज्ञान एवं विवेक की ज्योति जला कर करोगे, तो पाप से बचे रहोगे। यदि ज्ञान एवं विवेक के दीप को बुझा कर केवल जडता में फंसे रहे, तो इस जड क्रिया-काण्ड से पाप का अंधेरा घटेगा नहीं। ज्ञान-शून्य क्रिया—काण्ड एवं जप-तप को अज्ञान-तप, बाल-तप एवं मिथ्या-क्रिया कहा है। अतः पाप से बचना है, पाप से छुटकारा पाना है,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो आत्म-स्वरूप को समझो। और आत्म-ज्ञान के प्रकाश में, स्वभाव में रमण करने का प्रयत्न करो। क्यों कि राग-द्वेष, आसक्ति, तृष्णा, भोगेच्छा आदि सब विभाव है, स्वभाव नहीं। अस्तु विभाव के अंधकार से हट कर स्व-भाव के ज्योतिर्मय आलोक में रमण करना ही धर्म है, और यही आध्यात्मिक-साधना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आस्रव तत्त्व

६

जैन - दर्शन में तत्त्वों की व्याख्या दो प्रकार से की है—संयोगी - तत्त्व और वियोगी-तत्त्व। यह मैं प्रारंभ में बता चुका हूँ, कि जीव-तत्त्व और अजीव-तत्त्व, दो मुख्य हैं। इनके संयोग की अवस्था को आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप तत्त्व, और वियोग की अवस्था को संवर, निर्जरा और मोक्ष-तत्त्व कहते हैं। जीव और पुद्गल का संयोग होने पर शुभाशुभ आस्रव से पुण्य और पाप अथवा शुभ और अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, और जीव से पुद्गल का वियोग होने पर संवर से आते हुए कर्मों को रोक कर निर्जरा से पूर्व आबद्ध कर्मों की निर्जरा करके आत्मा कर्म से सर्वथा मुक्त होता है। यहाँ आस्रव-तत्त्व के विवेचन का प्रसंग है, अतः आज आस्रव पर अपने विचार प्रस्तुत करूंगा।

आस्रव की परिभाषा :

जैन-आगम एवं जैन-दर्शन में आस्रव की परिभाषा इस प्रकार की है—जिस क्रिया से, जिस विचार से, जिस भावना से कर्म-वर्गणा के पुद्गल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आते हैं, वह आस्रव है। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, चेतन है, शुद्ध है। और पुद्गल जड है, चेतना रहित है, ज्ञान शून्य है। दोनों का स्वभाव एक-दूसरे से विपरीत है। आत्मा की चेतनता अपने स्वरूप में परिणत होती है। आत्मा अपने स्वभाव में परिणत होता है, तब उस में कर्म नहीं आते। परन्तु जब वह स्वभाव को छोड कर मोह के कारण विभाव में परिणत होता है, अपनी अशुद्ध ज्ञान पर्याय में परिणत होता है, तब कार्मण वर्गणा के पुद्गल–जिन्हें कर्म कहते हैं, कर्मों से आबद्ध आत्मा में आते हैं। इस वैभाविक परिणति से आने वाले कर्म के द्वार को आस्रव कहते हैं। जैसे तालाब पर बने हुए नालों से वर्षा के समय बाहर का पानी उन नालों के द्वारा तालाब में आता है, इसी प्रकार वैभाविक परिणति से आकर्षित हो कर कर्म-पुद्गल आस्रव के नालों द्वारा जीव रूपी तालाब में आते हैं। कर्म-आगमन के रास्ते को आस्रव कहा है।

आस्रव के भेद :

जैन-आगम एवं कर्म-ग्रन्थों में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को आस्रव कहा है। जीव के राग-द्वेष आदि भावों से कर्म आते हैं और उनका बन्ध होता है। जिस विभाव से कर्म आते हैं, उसे भाव-आस्रव कहते हैं और कर्म-वर्गणा के पुद्गलों के आगमन को द्रव्यास्रव कहते हैं। पुद्गलों में कर्मत्व-पर्याय का विकसित होना एवं आत्म-प्रदेशों तक उन का आना भी द्रव्य-आस्रव कहलाता है। मिथ्यात्व एवं कषाय आदि से युक्त भावों से होने वाले कर्म-बन्ध को भाव-आस्रव कहा है। परन्तु जीव के प्रथम क्षण-भावी में मिथ्यात्व आदि भाव कर्म-पुद्गलों को आत्मा की ओर खीचने वाली साक्षात्, कारण भूत योग-क्रिया में निमित्त होते हैं, अतः उन्हें भाव-आस्रव कहते हैं, और उत्तर-क्षण भावी ये भाव बन्ध के कारण में निमित्त होते हैं, इसलिए उन्हें भाव-बन्ध कहते हैं। भाव-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आस्रव जितना तीव्र, मन्द एवं मध्यम गति का होता है, उसी के अनुरूप योगों में स्पन्दन होता है, और उसी अनुपात से कर्मों का आगमन एवं वन्ध होता है।

जव तक जीव अपने ज्ञान-स्वभाव से, शुद्ध आत्म-स्वभाव से हट कर राग-द्वेष एवं कषाय आदि विभाव-संयुक्त रहता है, तव तक विभाव में परिणत होता रहता है। शुद्ध-ज्ञान कभी भी विभाव में परिणत नहीं होता, और अशुद्ध-ज्ञान कदापि स्वभाव में परिणत नहीं होता। शुद्ध एवं सम्यक् ज्ञान की सम्यक् ज्ञान रूप स्वभाव में परिणति होती है, और राग-द्वेष से अनुरंजित अशुद्ध-ज्ञान की विभाव में, अशुद्ध-ज्ञान में परिणति होती है। और उसी से कर्म-पुद्गलों का आगमन होता है। वैभाविक परिणति से युक्त संसारी जीव ही आस्रव के द्वारा कर्मों को ग्रहण करता है। पूर्व में आवद्ध कर्म भी आस्रव में निमित्त वनते हैं, परन्तु वे विभाव में परिणत जीव के भाव-आस्रव में समय पर ही निमित्त वनते हैं, समय से पहले या पीछे नहीं। जैसे-एक वच्ची, स्त्री होने पर भी पुरुष के लिए उपभोग्य नहीं होती, परन्तु जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त होती है, तव पुरुष के राग-युक्त एवं भोगेच्छा-युक्त भावों के साथ उस का सम्वन्ध होता है। उसी प्रकार पूर्व-बद्ध कर्म जव फलोन्मुख होते हैं, तव जीव के राग-द्वेष आदि भाव के अनुसार नये कर्मों का आगमन एवं बन्ध होता है। परन्तु राग-द्वेष आदि के अभाव में पूर्व-वद्ध कर्म अपनी सत्ता मात्र से नये कर्मों का बन्ध नहीं करते। इससे स्पष्ट है, कि आस्रव का मूल कारण मिथ्यात्व, राग-द्वेष एवं कषाय युक्त ज्ञान की अशुद्ध-पर्याय एवं विभाव ही है।

आस्रव का मूल

क्रिया करना इतना ही आस्रव नहीं है। योग क्रियाशील हैं। आप नहीं चाहेंगे, तव भी योगों में क्रिया हुए विना नहीं रहेगी। पूर्णतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निष्क्रिय अवस्था चौदहवें अयोग गुणस्थान के पूर्व नहीं हो सकती। हम शब्द सुनते हैं, इतने मात्र से आस्रव नहीं होता। शब्द सुनना कर्णेन्द्रिय का स्वभाव है। परन्तु आस्रव तब होता है, जब मधुर शब्द सुन कर हमारे मन में राग-अनुराग एवं आसक्ति उत्पन्न हो और कटु शब्द सुन कर द्वेष, तिरस्कार एवं घृणा के भाव उत्पन्न हों। यदि मधुर या कटु दोनों में से किसी को भी सुन कर हमारे मन में राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होता है, तो सुनने मात्र से आस्रव नहीं होगा। हम आगम का स्वाध्याय कर रहे हैं, स्थानक में सामायिक कर के बैठे हैं, परन्तु उस समय यदि हमारी आत्म-परिणति स्व-स्वरूप का अध्ययन करने रूप स्वाध्याय में या समभाव में न हो कर, परभाव में अथवा विषम-भाव में हो रही है, तो वहाँ धर्म या संवर नहीं, आस्रव होगा। इस लिए आस्रव का सम्बन्ध केवल स्थान एवं क्रिया से नहीं है। स्थान एवं क्रिया मुख्य नहीं, गौण हैं। मुख्यता है—राग-द्वेष की। इसलिए आचारांग सूत्र में कहा है—आस्रव के स्थान संवर के कारण हो सकते हैं, और संवर के स्थान आस्रव के कारण हो सकते हैं। आस्रव और संवर में स्थान का आग्रह रखना, क्रिया-काण्ड का एवं व्यवहार-मात्र का आग्रह रखना, जडता है और आस्रव एवं संवर के यथार्थ स्वरूप को नहीं समझने का दुष्परिणाम है। वस्तुतः आस्रव का मूल क्रिया नहीं, राग-द्वेष हैं।[1]

मेरे इतना कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि जब तक अध्यात्म-साधना की क्रियाओं के साथ ज्ञान की सम्यक्-पर्याय में परिणमन नहीं होगा, तब केवल जड क्रियाओं के माध्यम से आस्रव से बचना चाहें, तो यह कार्य ऐसा ही होगा, कि जलते हुए अंगारों को हाथ में ले कर हम भगवान से प्रार्थना करते रहें, कि हमारा हाथ न जले। आप चाहे हजारों-

१. आचारांग सूत्र, १, ४, २.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हजार बार भगवान के नाम का स्मरण कर लें, फिर भी यदि प्रज्वलित अंगारे आप के हाथ में हैं, तो वे हाथ को जलाएँगे ही, भगवान का नाम उस जलन की पीड़ा को मिटा नहीं सकता ! इसी तरह कषाय-भाव का परित्याग किए बिना और ज्ञान एवं विवेक-संपन्न बने बिना की जाने वाली क्रियाएँ आप का कल्याण नहीं कर सकती, आप को आस्रव से नहीं बचा सकती। महान् योगीश्वर भगवान पार्श्वनाथ ने पंचाग्नि की तप-साधना में संलग्न कठोर तप करने वाले तापस को देख कर कहा-तप तप कर कष्ट तो बहुत उठा रहा है, परन्तु तत्त्व-बोध के अभाव में यह अज्ञान-तप कल्याण प्रद नहीं, परन्तु संसार में परिभ्रमण करने वाला है। उस समय भगवान पार्श्वनाथ ने यही कहा—

"अहो कष्टं—अहो कष्टं, तत्त्वं न ज्ञायते।"

पण्डित का गीता-ज्ञान :

एक राजा की राज्य सभा में एक बहुत बड़ा विद्वान आया। उसने राजा से कहा—मैं आप को गीता सुनाना चाहता हूँ। यदि आपकी सुनने की इच्छा हो तो सुनाऊं ?

राजा ने कहा—मैं ने अनेक बार गीता सुन रखी है।

पण्डित ने कहा—आप ने गीता सुनी अवश्य होगी। परन्तु जिस ढंग से मैं गीता सुनाता हूँ, गीता का विश्लेषण एवं गीता की व्याख्या करता हूँ, उस ढंग की गीता आपने नहीं सुनी होगी। आप मेरे से गीता सुनें, आप का अवश्य ही कल्याण हो जाएगा।

यदि ऐसी बात है, तो तुम भी सुनाओ। राजा श्रोता बन कर गीता सुनने बैठता है, और पण्डित गीता सुनाता है। अपनी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य के कारण वह गीता की बहुत सुन्दर व्याख्या करता, उसके अर्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को स्पष्ट रूप से समझाता। उसकी भाषा के माधुर्य एवं भावों को अभिव्यक्त करने की सुन्दर शैली से राजा का मन प्रसन्न हो गया। गीता-पाठ समाप्त होने पर वह प्रतिदिन पण्डित को दो मोहर देता था। पण्डित को ज्यों-ज़्यों धन की प्राप्ति होती गई, त्यों-त्यों उस का लोभ बढता गया, और वह गीता के प्रवचनों को लम्बा करता गया। छह महीने हो गए, फिर भी राजा का कल्याण नहीं हुआ, उसे आत्म-स्वरूप या ब्रह्म-स्वरूप का दर्शन नहीं हुआ। कारण यह था, कि राजा सुनता था, और पण्डित सुनाता था। केवल सुनने मात्र से ज्ञान नहीं होता। आगम में कहा है—श्रवण के साथ जब तक उस पर मनन—चिन्तन नहीं होता, तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। परन्तु राजा तो बिना चिन्तन के ही ज्ञान प्राप्त करना चाहता था, और पण्डित ने भी उसे यही विश्वास दिया था, कि तुम गीता सुनो, तुम को ब्रह्म ज्ञान होगा, तुम्हारा कल्याण हो जाएगा। परन्तु छह महीने में नहीं हुआ, तब राजाने पण्डित को चेतावनी देते हुए कहा—यदि पण्डितजी कल मेरा कल्याण नहीं हुआ, तो आप को शूली पर चढा दूंगा।

राजा के इस आदेश को सुन कर पण्डित चिन्तित हो गया। उस के लडके ने पिता को चिन्ता में निमग्न देख कर पूछा—पिताजी, चिन्ता का क्या कारण है? पण्डित ने अपने पुत्र को सब बात बता दी। पुत्र ने कहा—कल मुझे साथ ले चलो, मैं आप दोनों का कल्याण कर दूंगा, दोनों को ब्रह्म-ज्ञान करा दूंगा। दूसरे दिन पण्डितजी अपने पुत्र के साथ राजा के यहाँ गए, और कहा—मेरा पुत्र आप को ब्रह्म-ज्ञान करा देगा। पण्डित के पुत्र ने अपने पिता एवं राजा को एक-एक खंबे से बान्ध दिया, और एक डंडा लेकर दोनों पर बारी-बारी से (Turn by turn) डंडे का प्रहार करने लगा। राजा ने कहा—क्या कर रहे हो?

आप दोनों का कल्याण कर रहा हूँ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्या तुम पागल हो गए हो ? क्या डंडे के प्रहार से ब्रह्म-ज्ञान होगा ?

क्यों नहीं होगा ? यह शरीर माया से मिला है। मैं डंडे से मार-मार कर माया का नाश कर रहा हूँ। माया का नाश हो जाएगा, और तुम दोनों ब्रह्म में मिल जाओगे।

यदि शरीर के नाश होने मात्र से ब्रह्म की प्राप्ति होती हो तब तो मरने वाले सभी ब्रह्म बन जाएँगे। अरे नादान छोकरे ! इस तरह ब्रह्म-ज्ञान नहीं होता, राजा ने आवेश में कहा।

पण्डित के लडके ने भी शान्त स्वर में कहा—फिर केवल गीता सुनने मात्र से भी ब्रह्म-ज्ञान नहीं होगा। गीता सुनाते समय पिताजी की दृष्टि गीता के माध्यम से बताए गए ब्रह्म-ज्ञान में नहीं, परन्तु उसको सुनाने पर आपसे मिलने वाली स्वर्ण-मुद्राओं पर थी, और आप की दृष्टि थी, कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ दे कर गीता के शब्दों से ज्ञान प्राप्त कर लिया जाए। आप दोनों की दृष्टि जड-पदार्थों एवं जड-शब्दों पर थी, आत्म-चिन्तन की ओर दोनों का लक्ष्य ही नहीं था, तब ब्रह्म-ज्ञान कैसे होगा ? पिताजी पण्डित अवश्य हैं, परन्तु केवल पोथी के पण्डित हैं और उन का ज्ञान भी पोथी का ज्ञान है, अतः ऐसी स्थिति में ब्रह्म-ज्ञान की संभावना कैसे की जा सकती है ?

यह एक प्रश्न है—शास्त्र में ज्ञान है या ज्ञान में शास्त्र है ? शास्त्र में ज्ञान है, ऐसा कहना भी गलत है, और ज्ञान में शास्त्र है, यह कथन भी गलत है। शास्त्र जड हैं, पुद्गल हैं। यदि उन में ज्ञान है, तो जड चेतन बन जाएगा, और यदि ज्ञान में शास्त्र है, तो चेतन जडत्व को प्राप्त हो जाएगा। इसलिए वास्तव में ज्ञान शास्त्र में नहीं और शास्त्र ज्ञान में नहीं, परन्तु ज्ञान ज्ञान में है और शास्त्र शास्त्र में है। ज्ञान कहीं बाहर नहीं है, वह तो आत्मा में है। आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। याद रखिए, गुरु एवं शास्त्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान देते नहीं हैं, उनका निमित्त पा कर प्रसुप्त एवं आवृत्त ज्ञान जागृत एवं अनावृत्त हो जाता है। यदि शास्त्र से ही ज्ञान प्राप्त हो जाए, फिर तो कोई अज्ञानी नहीं रहेगा। परन्तु चौदह पूर्व का अध्ययन करने वाले भी अज्ञानी रह जाते हैं, उनमें मिथ्या-दृष्टि बनी रहती है। इस से स्पष्ट है, कि शास्त्र या गुरु ज्ञान देने में समर्थ नहीं हैं। क्यों कि ज्ञान देने की वस्तु नहीं है, वह तो अपने अन्दर से प्रकट करने की शक्ति है। वह अनन्त ज्योति कहीं बाहर नहीं, आत्मा में ही है। जब सूर्योदय होता है, तो हजारों कमल खिल उठते हैं और अस्त होते ही मुर्झा जाते हैं। सूर्य न तो कमल को विकसित करता है, और न उसे कुम्हलाता है। विकसित होने की शक्ति स्वयं कमल में है, सूर्य तो केवल निमित्त है। जिस कमल में विकास की ताकत नहीं है, वह कमल हजारों सूर्यों के उदित होने पर भी विकसित नहीं होगा। इसी तरह आत्म विकास एवं अनन्त आत्म-ज्ञान को प्राप्त करने में उपादान ही मुख्य है, शास्त्र, गुरु आदि निमित्त मात्र हैं।

मैं आप से कह रहा था, कि जब तक व्यक्ति पर-पदार्थ एवं पर-भावों पर दृष्टि रखेगा, विभाव में परिणत होता रहेगा, तब तक वह धर्म-स्थान में रहे, चाहे जो क्रिया करे, आस्रव से बच नहीं सकता।

साम्परायिक और इर्यापथ :

आगम में सामान्य रूप से आस्रव दो प्रकार का बताया है—राग-द्वेष एवं कषाय-अनुरंजित योग से होने वाला साम्परायिक-आस्रव, और दूसरा कषाय एवं राग-द्वेष से रहित मात्र योग से होने वाला इर्या-पथ-आस्रव। एक कषाय युक्त योग से होने वाला आस्रव है, जो बन्ध का कारण हो कर संसार को बढाता है, और दूसरा अकषाय-भाव के कारण केवल योग से होने वाला आस्रव है, जिससे आने वाले कर्मों का बन्ध नहीं होता। यह आस्रव वीतराग में होता है, योग के कारण आने वाले कर्म एक समय रह कर अलग हो जाते हैं। क्यों कि कषाय एवं राग-द्वेष का अभाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने से बंधते नहीं। सराग-आस्रव प्रथम से दशवें गुण-स्थान तक रहता है। ग्यारहवें में कषाय एवं राग उपशान्त हो जाते हैं, इसलिए वहाँ भी आस्रव से बंध नहीं होता, परन्तु कषाय का क्षय नहीं होने से आत्मा मोह का उदय होते ही पुनः नीचे गिर जाता है। परन्तु जो जीव क्षपक श्रेणी के द्वारा कषाय का क्षय कर देता है, वह दशवें से बारहवें गुणस्थान को स्पर्श करके वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का क्षय करके वीतराग के साथ सर्वज्ञ बन जाता है। परन्तु वहाँ योग रहता है, इसलिए बारहवें-तेरहवें में ईर्या-पथ-आस्रव लगता है। और चौदहवें गुणस्थान में आत्मा योग का निरोध करके अयोग अवस्था को प्राप्त हो जाता है, इसलिए वहाँ आस्रव का अस्तित्व नहीं रहता। इस प्रकार राग-द्वेष, कषाय एवं योग आदि के कारण दूसरे के ज्ञान में बाधा पहुँचाना, दूसरे को कष्ट देना, दूसरे की निन्दा-बुराई करना आदि जिस-जिस प्रकार के ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय आदि क्रियाओं में जीव संलग्न होता है, उस प्रकार के कर्मों का आस्रव के द्वारा आगमन होता है। जिस समय जिस प्रकार कषायिक भावों से युक्त जिस प्रकार की क्रिया होती है, उसी प्रकार के कर्म मुख्य रूप से आते हैं, शेष कर्म गौण रूप से। पर-भव शरीर आदि की प्राप्ति के लिए आयु-कर्म का आस्रव वर्तमान आयु के त्रि-भाग में एक बार ही होता है। शेष सात कर्मों का आस्रव हर समय होता रहता है।

अध्यात्म-साधना के लिए यह आवश्यक है, कि आत्म-विकास में बाधक तत्त्व के स्वरूप का परिज्ञान कर के उस से मुक्त होने का प्रयत्न करें। आस्रव जीव का विभाव में रमण करने के कारण होता है। इसलिए विभाव और स्वभाव को समझ कर स्वभाव में स्थित होना ही आस्रव एवं संसार से मुक्त होना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संवर-तत्त्व

७

संवर की परिभाषा

अध्यात्म-साधन में संवर महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। संवर की साधना ही अध्यात्म-साधना है। अध्यात्म-साधना का उद्देश्य है—संसार में परिभ्रमण करने वाली कर्म से आवद्ध आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करना। जैन-दर्शन एवं आगमों के अनुसार बन्ध का कारण आस्रव है, कार्मण-वर्गणा के पुद्‌गलों का आना है। क्यों कि जब तक आस्रव का द्वार खुला रहेगा, तब तक पूर्व-आवद्ध कर्म अपना फल दे कर अलग हो जाएँगे, परन्तु नये कर्म आते रहेंगे, इसलिए आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त नहीं होगा। जब तक तालाब में पानी आने के नाले खुले रहेंगे और उनके द्वारा बाहर से पानी आता रहेगा तब तक पूर्व के पानी को निकालते रहने पर भी तालाब कभी भी खाली नहीं होगा। तालाब में भरे हुए पूर्व के पानी को निकाल कर खाली करने के पूर्व उसमें आने वाले पानी के नालों को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्द करना आवश्यक होगा। इसी प्रकार आत्मा को कर्म-बन्धन से मुक्त करने के लिए सब से पहले कर्म के आगमन द्वार आस्रव को रोकना होगा। आस्रव को रोकने वाली साधना को जैन-आगम की भाषा में संवर कहते हैं। आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में संवर की परिभाषा इस प्रकार की है– "**आस्रव-निरोधः संवरः**"–आस्रव का निरोध करने वाला, आस्रव को रोकने वाला तत्त्व संवर है। संवर शब्द का उल्लेख जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। परन्तु इस अर्थ में योग शब्द का उल्लेख योग दर्शन में मिलता है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योग-सूत्र में योग की परिभाषा करते हुए लिखा है- "**योगश्चित्त-वृत्ति-निरोधः**"–चित्त वृत्तियों का निरोध करना योग है। पातञ्जलि योग-सूत्र में 'योग' का जो अर्थ किया है, जैन-दर्शन में वहीं अर्थ 'संवर' का है। यह मैं पहले ही बता चुका हूँ, कि राग-द्वेष एवं कषाय से अनुरंजित मन, वचन और शरीर की वृत्ति–उस में भी मुख्यता मन की वृत्तियों की है–आस्रव है। और मन की वृत्तियों को रोकना, उनका निरोध करना ही संवर है।

निश्चय-दृष्टि :

आत्मा का स्वभाव स्व-भाव में रहना है, विभाव में नहीं। चेतना-चेतना में रहती है, अचेतन में नहीं। कषाय कषाय में रहता है। राग-द्वेष में ही राग-द्वेष रहते हैं। क्रोध में ही क्रोध निवसित हैं। कषाय एवं राग-द्वेष आदि आत्म-चेतना नहीं है, आत्मा का स्वभाव नहीं है। चेतना में क्रोध आदि नहीं हैं। कर्म और नोकर्म में भी चेतना नहीं है। और चेतना में कर्म और नोकर्म नहीं हैं। जब आत्मा को अपने स्वरूप का यथार्थ-बोध हो जाता है और इस प्रकार ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह राग-द्वेष एवं कषाय-अनुरंजित विभावों में परिणत नहीं होता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह अपने आप को विभाव से अलग स्व-भाव में देखता है। इस प्रकार स्व का स्व से स्व में देखना और स्व में ही रमण करना निश्चय दृष्टि से संवर है। आत्मा का पर-भाव में या विभाव में परिणत होना, आस्रव है, और स्व में परिणत होना संवर है। पर-भाव में परिणत होना संसार है, और स्व में पारिणत होना संसार को रोकना है, संसार का निरोध करना है।

इसलिए अपने आप को अपने द्वारा ही कषाय एवं राग-जन्य वृत्तियों से रोक कर अपने दर्शन-ज्ञान स्वरूप में स्थिर रह कर समग्र पर-संगों का त्याग करके जो जीव अपनी आत्मा का आत्मा के द्वारा ध्यान करता है, पर-पदार्थों एवं विभावों का ध्यान नहीं करता, वही व्यक्ति आस्रव को रोक कर आत्मा के स्वरूप को प्रकट करता है। वह रागादि भावों में नहीं भटकता। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग-ये चार अध्यवसान राग-द्वेष आदि भावों के कारण हैं। ज्ञानी में इन कारणों का अभाव होता है। अतः उसे आस्रव निरोध रूप संवर की ही प्राप्ति होती है। और इससे वह पहले कर्म से मुक्त होता है, फिर नोकर्म (शरीर आदि) का निरोध करता है। कर्म और नोकर्म से छूट जाने पर वह संसार से भी मुक्त हो जाता है। अतः निश्चय दृष्टि से पर-भाव में रमण करना आस्रव है, और स्व के द्वारा स्व का स्व-स्वभाव में रमण करना संवर है।

गुप्ति :

आस्रव योग से होता है। सराग योग से साम्परायिक आस्रव होता है, और वीतराग के योग से ईर्या-पथ-आस्रव होता है। परन्तु अयोग अवस्था में आस्रव होता ही नहीं। अतः योग से निवृत्त होना वास्तव में संवर है। परन्तु जब तक योग हैं, तब तक उनकी प्रवृत्ति को सर्वथा रोकना संभव नहीं है। शरीर है, तो उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आहार-पानी का उपयोग, मल-मूत्र का विसर्जन, चलना-फिरना, बोलना, किसी वस्तु को रखना-उठाना आदि क्रियाएँ करनी ही पडती हैं। इसलिए साधक योगों को रोकने का प्रयत्न नहीं करता, वह यथासंभव प्रवृत्तियों को रोकने का प्रयास करता है। वह जितने अंश में मन, वचन और काय–शरीर की प्रवृत्तियों को रोकता है, उस साधना को जैन-परिभाषा में गुप्ति कहते हैं। गुप्ति का अर्थ है–गोपन करना, रक्षा करना। योगों को अकुशल एवं अधर्म की ओर प्रवृत्त नहीं होने देना, उसे पर से हटा कर स्व में स्थित करना। गुप्ति योग से होनेवाली प्रवृत्तियों की निरोधक है, इसलिए इस को संवर कहा है।

समिति :

अध्यात्म-साधना में संलग्न साधक सदा-सर्वदा योगों को रोक कर नहीं रख सकता। उसे नहीं चाहते हुए भी प्रवृत्ति करनी पडती है। परन्तु उस में वह इस बात का ध्यान रखता है, कि उसकी प्रवृत्ति सम्यक् एवं विवेक पूर्वक हो। आगम में इसे समिति कहा है। समिति का अर्थ है-विवेक एवं ज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति करना। वह पाँच प्रकार की है–ईर्या-समिति-विवेक पूर्वक चलना, भाषा-समिति–विवेक पूर्वक हित-मित और प्रिय वचन बोलना, एषणा-समिति–विवेक पूर्वक निरीक्षण कर के निर्दोष आहार लेना, आदान-निक्षेपण-समिति–विवेक के साथ यतना से वस्तु को रखना एवं उठाना और उत्सर्ग-समिति–विवेक पूर्वक मल-मूत्र का विसर्जन करना।

इस प्रकार इस व्यवहार साधना को भी संवर कहा है। इस में साधक योगों से होने वाली क्रियाओं में प्रवृत्त होता है, परन्तु वह मन की वृत्तियों को राग-द्वेष एवं कषायों से हटाने का प्रयत्न करता है। यह सत्य है, कि योग की प्रवृत्ति आस्रव है, परन्तु कषाय-युक्त भावों से होने वाली योगों की प्रवृत्ति ही वास्तव में आस्रव है, जो बन्ध का कारण बनती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और आगम में सर्व-प्रथम उस आस्रव को रोकने के लिए कहा है। इसलिए जैन-दर्शन साधक को योगों को नष्ट करने की बात नहीं कहता, वह तो इतना ही कहता है, कि प्रवृत्ति के समय विवेक की आँख खुली रखो अपनी वृत्तियों को राग-द्वेष एवं कषाय की ओर मत बहने दो, और प्रवृत्ति में आसक्त मत बनो, और यह कार्य मैं ने किया या मैं कर रहा हूँ अथवा मेरे सिवाय और कौन कर सकता है, इस प्रकार कार्य-करने का अहंकार मत करो। इस प्रकार मन की वृत्तियों को रोकने में सफल बन गए, तो पाप का बन्ध नहीं होगा।

प्रवृत्ति सम्यक्-दृष्टि भी करता है, और मिथ्या-दृष्टि भी करता है। भले बाहर से दोनों की प्रवृत्ति एक-सी दिखाई देती है, परन्तु दोनों में रात-दिन जितना अन्तर है। सम्यक् दृष्टि को स्व का स्व के रूप में और पर का पर के रूप में परिज्ञान हो गया है, इसलिए वह प्रवृत्ति की ओर प्रवृत्त नहीं होता, प्रत्युत स्व में स्थित होना चाहता है। योगों के कारण प्रवृत्ति होती है, परन्तु वह उस में आसक्त नहीं होता, अपनत्व का अहंकार नहीं करता, वह तो केवल द्रष्टा बन कर रहता है, और विवेक एवं ज्ञान पूर्वक कदम रखता है। इसलिए प्रवृत्ति होती है, फिर भी उसे पाप-कर्म का बन्ध नहीं होता। आचारांग सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है—सम्यक्-दर्शी जीव पाप-कर्म नहीं करता।[1] जिसकी दृष्टि सम्यक् है, आत्माभिमुखी है, स्व-भाव की ओर है, वह कभी पाप-कर्म नहीं करता। स्वभावोन्मुख साधक स्व-भाव की ओर बढता है। स्वभाव में परिणत होना, उस ओर बढना, आस्रव को रोकना है। और आस्रव का निरोध करना संवर है। जहाँ संवर होगा, वहाँ पाप-पुण्य कहाँ से होगा?

परन्तु मिथ्या-दृष्टि पराभिमुख है। वह पर को स्व समझता है। पर-पदार्थों में आसक्त रहता है। अनुकूल संयोग मिलने पर उन पर अनुराग करता है,

---

१ सम्मत्त-दंसी न करेइ पावं। — आचारांग सूत्र, १,३,२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

और प्रतिकूल संयोगों पर द्वेष करता है। उसके मन की वृत्तियाँ राग-द्वेष एवं कषायों से अनुरंजित हैं, इसलिए वह वृत्तियों को रोक नहीं सकता। उसका आस्रव-द्वार सदा खुला रहता है। अतः वह पाप-कर्म का बन्ध करता है।

संयम :

यम का अर्थ है—रोकना। इसलिए संयम का तात्पर्य है—कर्म-बन्ध के मूल कारण आस्रव को रोकना। संयम में साधक सामायिक व्रत स्वीकार करता है। सामायिक संयम-साधना का मूल है। क्यों कि समभाव में रहना अथवा स्व-भाव में रहना यही आत्म साधना का लक्ष्य है। समभाव जीव का स्व-भाव है, और विषमता विभाव है। स्व में स्थित साधक समभाव या समता में रहता है, और पर-भाव, विभाव या पर-पुद्गलों में रमण करने वाला विषम-भाव में रमण करता है। समभाव संवर है और विषम-भाव आस्रव। समभाव से कर्मों का आगमन रुकता है और विषम-भाव से कर्म का आगमन एवं बन्ध होता है। इसलिए समभाव की साधना रूप सामायिक को संवर कहा। और समभाव से एवं स्व-भाव में रमण रूप सामायिक की प्रधानता होने के कारण पाँच-चारित्र, पाँच समिति, तीन गुप्ति, बावीस परीषह, दस यति-धर्म और बारह भावना, इस प्रकार सतावन तरह की साधना को संवर कहा है। इसमें पाँच-महाव्रत भी समाविष्ट हो जाते हैं।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि संयम या सामायिक संवर की साधना है। यह आस्रव को रोकने की क्रिया है। परन्तु आस्रव का निरोध तब होता है, जब व्यक्ति ज्ञान पूर्वक सामायिक की साधना करता है। केवल क्रिया करना संवर नहीं है। क्रिया से कर्म नहीं रुकते। और न क्रिया करने मात्र से धर्म होता है। क्रिया-काण्ड जड है। और धर्म आत्मा का स्वभाव है। अतः वह (धर्म) क्रिया से कैसे होगा? याद रखिए, सामायिक की क्रिया ही सामायिक नहीं है, वास्तव में सामायिक है आत्मा के समभाव में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या स्वभाव में स्थित होना। भगवती सूत्र में गणधर गौतम के इस प्रश्न का—भगवन्? सामायिक क्या है? सामायिक का अर्थ क्या है?—समाधान करते हुए भगवान महावीर ने कहा—गौतम-आत्मा ही सामायिक (समत्व-भाव) है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ (विशुद्धि) है।[1] इस से स्पष्ट होता है, कि आत्मा का समभाव या स्वभाव-स्थित होना ही सामायिक है। और यह भाव-सामायिक ही संवर है। द्रव्य सामायिक केवल साधन है, निमित्त है, परन्तु सामायिक आत्म-भावों में है, क्रिया में नहीं। इसलिए आगम में स्पष्ट शब्दों में कहा है, कि ज्ञान पूर्वक की गई साधना ही आत्म-साधना है। जिस व्यक्ति में ज्ञान नहीं है, जिस को तत्त्व का यथार्थ बोध नहीं है, यदि वह व्यक्ति केवल बाह्य क्रिया करते हुए यह कहता है, कि मैंने हिंसा, झूठ आदि का त्याग कर दिया है, तो भगवान महावीर कहते हैं, कि वह दुष्प्रत्याख्यानी है, असत्य बोलने वाला है, बाल है, असंवृत्त है।[2]

मैं क्रिया का निषेध नहीं करता हूँ। जब तक योग है, तब तक क्रिया रहेगी ही। योग के रहते हुए व्यक्ति निष्क्रिय नहीं हो सकता। परन्तु मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि ज्ञान पूर्वक क्रिया करो। महत्त्व क्रिया का नहीं, ज्ञान के साथ, विवेक के साथ क्रिया करने का है। ज्ञान-युक्त क्रिया अथवा समभाव को साकार रूप देने वाली सामायिक संवर है, जीवन को तेजस्वी बनाने वाली है, और ज्ञान एवं विवेक रहित की जाने वाली क्रिया अथवा समभाव से रहित वैषम्य को जन्म देने वाली सामायिक तेजस्वी नहीं, जड है, वह जडता को बढाने वाली है। अतः संवर की साधना में अभी से प्रवृत्ति को नहीं छोडना है, परन्तु मन की वृत्तियों को रोकना है, उन्हें मांजना है, और कषाय से रहित बनाना है।

---

१. भगवती सूत्र, १, ९ २. भगवती सूत्र, ७, २.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्ध-तत्त्व

८

जैन-दर्शन जीव और पुद्गल दोनों द्रव्यों को, दोनों तत्त्वों को स्वतन्त्र मानता है। जीव अपने आप में स्वतन्त्र है और पुद्गल भी अपने आप में स्वतन्त्र। जीव की परिणति अपने गुणों में, अपनी पर्यायों में होती है, और पुद्गल की परिणति अपनी पर्यायों एवं अपने गुणों में होती है। जीव अजीव में परिणत नहीं होता, और अजीव या पुद्गल जीव रूप में परिणत नहीं होता। जीव पुद्गल के एक अणु-परमाणु को भी अपने रूप में परिवर्तित नहीं कर सकता है, और पुद्गल आत्मा को एक प्रदेश को भी अणु रूप में नहीं बदल सकता। दोनों की परिणति अपने ही रूप में होती है। कोई भी द्रव्य अपने से भिन्न द्रव्य को बना नहीं सकता, और बदल भी नहीं सकता। इसलिए सभी द्रव्य अपने आप में स्वतन्त्र हैं। फिर भी जीव और पुद्गल का संयोग होता है, बन्ध होता है। इसलिए प्रश्न यह है, कि बन्ध क्या है? और बन्ध कैसे होता है?

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बन्ध की परिभाषा :

जैन-दर्शन में दो तत्त्वों के, दो द्रव्यों के या दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को बन्ध कहा है। संसार में स्थित जीव के साथ कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों का सम्बन्ध होना बन्ध है। जब तक आस्रव का द्वार खुला रहता है, तब तक बन्ध होता ही है। जहाँ-जहाँ आस्रव है, वहाँ-वहाँ बन्ध है। बन्ध दो प्रकार का होता है—एक भाव-बन्ध, और दूसरा द्रव्य-बन्ध। जिन राग-द्वेष, मोह एवं कषाय आदि विकारी भावों से कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों का बन्ध होता है, उन विभावों को भाव-बन्ध और उन विभावों से कर्म-पुद्गलों के आत्मा के साथ होने वाले सम्बन्ध को द्रव्य-बन्ध कहते हैं। यह तो निसन्देह कह सकते हैं, कि दो द्रव्यों के होने वाला यह सम्बन्ध संयोग-सम्बन्ध है, तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं। दूध और पानी का जो सम्बन्ध होता हैं, वह तादात्म्य सम्बन्ध होता है। परन्तु दण्ड और दण्डी का जो सम्बन्ध है, वह संयोग सम्बन्ध है। दण्डी जब चाहे तब दण्ड को छोड भी सकता है। इसी प्रकार जीव और पुद्गल बन्ध के कारण एक रूप दिखाई देते हैं, परन्तु एक रूप हैं नहीं। क्यों कि बन्ध एवं बन्ध के कारणों का तथा बन्धे हुए कर्मों का क्षय होने पर कर्म जीव के साथ एक रूप दिखाई नहीं देते। आत्मा जब स्व को जान कर स्व में पूर्ण रूप से स्थित हो जाता है, तब वह कर्म-पुद्गलों के संयोग को हटा देता है, और अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट कर लेता है। इसलिए राग-द्वेष के कारण कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों का जीव के साथ संयोग सम्बन्ध होना बन्ध है ?

बन्ध के कारण :

जैन-दर्शन में राग-द्वेष को बन्ध का कारण कहा है। मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति, कषाय एवं योग, ये पाँचों बन्ध के हेतु हैं, कारण हैं। यह मैं पहले बता चुका हूँ, कि इन विकारी भावों के कारण आत्म-प्रदेशों में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्पन्दन होता है, योगों में गति होती है, और कार्मण-वर्गणा के पुद्गल आते हैं, जिसे आस्रव कहा है, और राग-द्वेष से उन आगत कर्मों का बन्ध होता है। इनमें मिथ्यात्व या मिथ्या-दृष्टि मुख्य रूप से अनन्त कर्म बन्धक हैं। वास्तव में संसार को अनन्त बनाने वाली मिथ्या-दृष्टि ही है। जब तक मिथ्यात्व का उदय रहता है, तब तक संसार का अन्त नहीं आता, वह असीम से ससीम नहीं बनता। आगम में मिथ्या-दृष्टि को अनन्त संसारी कहा है, और सम्यक्त्व का संस्पर्श होते ही या सम्यक्-दृष्टि के प्राप्त होते ही, उसे परिमित-संसारी कहा है, संसार से पार होने वाला कहा है। संसार का अन्त करने की शक्ति एवं क्षमता मिथ्यात्व में नहीं, सम्यक्त्व में ही है।

मिथ्यात्व क्या है ?

स्व को पर समझना अथवा पर को स्व समझना मिथ्यात्व है। स्व और पर के भेद-विज्ञान को नहीं समझना ही मिथ्यात्व है। स्व और पर के स्वरूप का बोध नहीं होने के कारण ही अज्ञानी व्यक्ति कहता है—दूसरा व्यक्ति मेरी या मेरे परिवार की हिंसा करता है, इसलिए मैं भी उसकी हिंसा करता हूँ। इसी प्रकार यह सोचना, कि मैं दूसरों को जीवित रखता हूँ, अथवा दूसरे मुझे जीवित रख रहे हैं, यह भी मूढ-भाव एवं अज्ञान है। वस्तुतः आयु-कर्म का क्षय होने पर जीव मरता है। और जब तक आयु-कर्म शेष रहता है, तब तक वह जीवित रहता है। आयु-कर्म का बन्ध जीव ने स्वयं किया है, और जितने समय का बान्धा है, उसके समाप्त होते ही आयु-कर्म का क्षय हो जाता है। कोई भी व्यक्ति किसी के आबद्ध आयु-कर्म का न हरण कर सकता है, और न किसी को दे सकता है। फिर तुमने उसको कैसे मारा या उसने तुमको कैसे मारा ? तुम दूसरे को किस प्रकार जीवित रख सकते हो। अथवा दूसरा व्यक्ति तुमको

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को कैसे जीवित रख सकता है? वस्तुतः प्रत्येक जीव अपने-अपने आयु-कर्म के उदय से जीवित रहते हैं और उसके क्षय होने पर मरते हैं। प्रत्येक जीव अपने ही शुभ या अशुभ कर्म के उदय के कारण सुख और दुःख का संवेदन करते हैं। कोई भी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति को सुख या दुःख नहीं दे सकता। जीव मरे या न मरे, वह दुःख प्राप्त करे अथवा न करे, परन्तु उसे मारने का, दुःख एवं परिताप देने का जो मिथ्या विकल्प, दुर्भावना, दुरध्यवसाय एवं दुर्बुद्धि मन में उद्‌बुद्ध होती है, वही वस्तुतः बन्ध का कारण है। वास्तव में अज्ञान एवं राग-द्वेष युक्त अध्यवसाय एवं परिणामों से ही बन्ध होता है।

इसके लिए एक उदाहरण दे दूं, तो बात स्पष्ट हो जाएगी। व्यक्ति शुष्क बदन से बालू-रेत पर लेटता है, तो धूलि-कण उसको लगते तो हैं, परन्तु चिपकते नहीं, वे एक ही झटके में खिर जाते हैं। परन्तु जब व्यक्ति तेल लगा कर बालू-रेत पर लेटता है, तो धूलि के कण उसके शरीर को चिपक जाते हैं, वे एक तो क्या अनेक झटके लगाने पर भी नहीं उतरते। उनको शरीर से अलग करने के लिए साबुन लगाना पड़ता है। एक और भी उदाहरण देता हूँ—

एक सेठ बंगला बनाता है, उसमें संगमर्मर की फर्श लगाता है, और दीवारों पर सुन्दर-सुन्दर चित्र चित्रित करवाता है। परन्तु यदि उस कमरे की खिड़कियाँ एवं दरवाजे बन्द न करके खुला रखे तो आंधी एवं हवा के कारण वह सुन्दर सुहावना बंगला मिट्टी से भर जाएगा, और उसका फर्श एवं उसकी दीवारें धूल के कारण धूमिल एवं गन्दी दिखाई देगी। इसी प्रकार यदि हम पाँच इन्द्रियों की खिड़कियों और मन के द्वार को बन्द नहीं करेंगे, तो मोह एवं राग-द्वेष तथा कषायों के झंझावात से कर्मों का कचरा आत्मा रूपी कमरे में आए बिना नहीं रहेगा। जब तक आस्रव का द्वार खुला रहेगा, तब तक कर्मों का बन्ध होगा ही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि जब तक मिथ्यात्व, राग-द्वेष, कषाय आदि विकारों का चिकनापन रहेगा, तब तक व्यक्ति कर्म-बन्ध से बच नहीं सकेगा। जब व्यक्ति के अन्तर्मन में इस प्रकार की भावना या विचार-धारा उद्बुद्ध होती है, कि इन पदार्थों को बनाने वाला मैं हूँ, ये पदार्थ मेरे हैं और मैं इन का हूँ। इस प्रकार मन में कर्तृत्व का अहंकार एवं पर के प्रति अपनत्व और ममत्व का भाव जागृत होता है, तब बन्ध होता है। जब तक आत्मा द्रष्टा बन कर रहता है, किसी भी वस्तु पर राग-द्वेष एवं ममत्व भाव नहीं रखता, तब तक बन्ध नहीं होता। केवल देखने मात्र से वस्तु चिपक नहीं जाती है। एक व्यक्ति नोटों से भरा हुआ पर्स लेकर बाजार जाता है। बाजार में दोनों ओर दुकानों पर विविध प्रकार की वस्तुएँ हैं, और उस व्यक्ति के पास नोट भी हैं। परन्तु जब तक वह दुकान पर जा कर वस्तु को खरीदता नहीं, कुछ नोट देकर उस वस्तु को अपनी नहीं बना लेता, तब तक वस्तु उसके पास नहीं आती। केवल देखने मात्र से वस्तुएँ उस से चिपक नहीं जाती है। इसी प्रकार इस संसार के बाजार में से सम्यक्-दृष्टि भी निकलता है, और मिथ्यादृष्टि भी। परन्तु सम्यक्-दृष्टि द्रष्टा बन कर सीधा निकल जाता है, वह न तो किसी पर अनुराग करता है, और न किसीसे विद्वेष ही रखता है। परन्तु मिथ्या-दृष्टि संसार के पदार्थों को देख कर राग-द्वेष में उलझ जाता है। यही कारण है, कि केवल द्रष्टा होने के कारण सम्यक् दृष्टि बन्ध नहीं करता और राग-द्वेष के कारण मिथ्यात्वी बन्ध करता है। इसलिए सब से पहले पदार्थों के प्रति रही हुई आसक्ति का, राग-द्वेष का एवं व्यामोह का त्याग करना है। जब व्यक्ति को सम्यक्-ज्ञान हो जाता है, तब वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने लगता है, और फिर अपने स्वरूप में स्थित होने के लिए पर-पदार्थों के प्रति रहे हुए राग-द्वेष एवं विभाव से हट जाता है। पर के प्रति राग-द्वेष एवं आसक्ति का त्याग ही सच्चा त्याग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। उसके बाद पर-पदार्थों को छोडना नहीं पडता, वे स्वयं ही छूट जाते हैं। इसलिए सब से पहले स्व-पर के स्वरूप को समझें, पर पदार्थों में जो अपनत्व बुद्धि है, उसे त्याग दें। बन्ध का मूल यह अज्ञान ही है।

सम्यक्त्व :

यथार्थ तत्त्व-ज्ञान पर या आत्म-स्वरूप पर विश्वास करना, श्रद्धा रखना सम्यक्त्व अथवा सम्यक्-दर्शन है। आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। इसलिए निश्चय-दृष्टि से आत्मा ही मेरा ज्ञान है। आत्मा ही मेरा दर्शन है। आत्मा ही मेरा चारित्र है। आत्मा ही मेरा प्रत्याख्यान है। आत्मा ही मेरा संवर है। और आत्मा ही मेरा योग है। वस्तुतः आत्म-स्वरूप को जानना, स्व-पर का यथार्थ बोध करना, सम्यक्-ज्ञान है। अपने आत्म-स्वरूप पर विश्वास करना, श्रद्धा करना, सम्यक्-दर्शन है। और अपने आत्म-स्वरूप में अथवा आत्म-स्वभाव में स्थिर होना, सम्यक्-चारित्र है। इन तीनों की समन्वित साधना ही मोक्ष-मार्ग है। यह नितान्त सत्य है, कि आत्म-ज्ञान ही सम्यक्-ज्ञान है। आत्म-स्वरूप को जानने वाला स्व-ज्ञान के द्वारा सब-कुछ जान लेता है। उससे कोई पदार्थ अज्ञेय एवं अज्ञात नहीं रहता। इसलिए आत्मा का इस त्रि-पुटी से सम्बन्ध रहा है—ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय; ध्याता, ध्यान, ध्येय और साधक, साधना, साध्य-सिद्धि। संसार के समस्त द्रव्यों, तत्त्वों एवं जड-चेतन पदार्थों को जानने वाला आत्मा-ज्ञाता है। वह अपनी जिस शक्ति से स्व-पर के स्वरूप को जानता है, वह ज्ञान है। और ज्ञाता के ज्ञान से जो कुछ जाना जाए, वह ज्ञेय है। ज्ञान उतना ही विशाल, विराट् एवं व्यापक होता है, जितने ज्ञेय पदार्थ विशाल होते हैं। ज्ञेय-पदार्थ अनन्त हैं, लोक-अलोक व्यापी हैं, इसलिए ज्ञान भी अनन्त है, और सर्वत्र व्याप्त है। अनन्त-ज्ञान लोक के साथ अलोक-आकाश को भी देखता है। यह बात अलग है, कि ज्ञान पर आए हुए कर्म के आवरण के कारण छद्मस्थ का ज्ञान प्रकट में अनन्त नहीं, सीमित है। परन्तु छद्मस्थ होने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर भी सम्यक्-दृष्टि ज्ञाता बन कर अपने ज्ञान के द्वारा ज्ञेय पदार्थों को देखता अवश्य है, परन्तु वह उन में आसक्त नहीं बनता, उन पर राग-द्वेष नहीं करता, उन में अपनत्व बुद्धि नहीं रखता, इसलिए वह ज्ञाता एवं द्रष्टा रहता है। इसलिए सम्यक्-दृष्टि संसार की अभिवृद्धि करने वाले, संसार बढ़ाने वाले कर्मों के पाश से आबद्ध नहीं होता।

ज्ञानी और अज्ञानी :

आज ज्ञानी और अज्ञानी किसे कहा जाए ? यह भी एक समस्या है ? वैदिक-परंपरा पर विश्वास रखने वाले कहते हैं—जो वेदों पर विश्वास नहीं रखता, जो वेदों के एक-एक अक्षर को सत्य नहीं मानता, वह नास्तिक है। बौद्ध-परंपरा को मानने वाले उस व्यक्ति को अज्ञानी कहते हैं, जो बुद्ध के वचनों को सत्य नहीं मानता। जो व्यक्ति कुरान पर विश्वास नहीं करता, उसे इस्लाम के अनुयायी काफिर कहते हैं। बाइबल के शब्दों पर श्रद्धा नहीं करने वाले को क्राइस्ट के अनुयायी क्रिश्चियन शैतान कहते हैं। जैन-दर्शन में भी यह शब्द पेटेन्ट बन गया है—जो वीतराग-वचनों पर विश्वास नहीं करता वह मिथ्या दृष्टि है। आज तो यह शब्द इतना रूढ और प्रचलित हो गया है, कि वीतराग-वाणी को मानने वाले और अनेकान्त वादी होने का आघोष करने वाले जैन अपने से भिन्न जैन सम्प्रदाय के अनुयायियों को भी मिथ्या दृष्टि कहते हैं, क्यों कि वे अपनी परंपरा द्वारा मान्य विचारों को स्वीकार नहीं करते। यह एक समस्या है, कि जैन-परम्पराओं में भी किस को सम्यक्-दृष्टि मानें, और किसको मिथ्या-दृष्टि ? सभी देव, गुरु और धर्म पर विश्वास रखने की बात कहते हैं। सभी जैन वीतराग को देव, निर्ग्रन्थ को गुरु, और वीतराग द्वारा प्ररुपित वीतरागता को प्राप्त कराने वाली साधना को धर्म मानते हैं। वास्तव में सम्यक्त्व का स्वरूप यह नहीं है, जो प्रचारित किया जा रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। यह व्यवहार सम्यक्त्व है। और व्यवहार सम्यक्त्व जीव ने अनन्त बार प्राप्त की है, परन्तु जब तक उसे स्व-स्वरूप का बोध नहीं होता, कषायों का एवं मिथ्यात्व का क्षय एवं क्षयोपशम नहीं होता, तब तक वह निश्चित सम्यक्त्व का स्पर्श ही नहीं कर पाता। निश्चय में सम्यक्त्व को प्राप्त करने वाले बहुत कम है। जिसने निश्चय से सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है– वह किसी की भी निन्दा नहीं करेगा, अवहेलना एवं तिरस्कार नहीं करेगा, और किसी को गिराने एवं अपमानित करने का प्रयत्न नहीं करेगा। परन्तु जो भी इस तरह घृणित प्रयत्न करते हैं, गालियाँ देते हैं, उन्हें निश्चय-सम्यक्त्व तो क्या, व्यवहार-सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं हुआ है। कौन व्यक्ति सम्यक्त्वी है, और कौन मिथ्यात्वी? यह सर्टिफिकेट वही दे सकता है, जिसे अनन्त-ज्ञान हो गया है। परन्तु जैसे पाश्चात्य देशों में भोले-भाले लोगों से पैसा ऐंठने के लिए चर्च के पादरी एवं पोप पैसे लेकर स्वर्ग जाने का सर्टिफिकेट देते थे, उसी प्रकार कुछ साम्प्रदायिक व्यक्ति अपने स्वार्थ को साधने के लिए अपने विचारों का अनुसरण करने वाले को सम्यक्-दृष्टि और अपनी बात नहीं मानने वाले को मिथ्या-दृष्टि का प्रमाण-पत्र वितरित कर देते हैं। जिनमें आत्म-ज्ञान की गहराई नहीं है, वे ही हो-हल्ला मचाते हैं। कहते हैं– सीप स्वाति नक्षत्र का उदय होने पर समुद्र में पानी के बाहर मुँह खोल कर खड़ी रहती है, परन्तु स्वाति की बूंद मुँह में पड़ते ही वह एकदम मुँह को बंद कर के सागर की गहराई में चली जाती है। इसी प्रकार स्व-स्वरूप का बोध जिसे हो गया है, वह बाहर में हल्ला नहीं मचाता। वह तो आत्म-चिन्तन की अनन्त गहराई में रमण करता है, अपने अन्दर से अनन्त ज्ञान-ज्योति को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परन्तु इस प्रकार कहने वाले ज्ञानी नहीं, अज्ञानी है। ज्ञानी वह है, जो राग-द्वेष के कीचड़ में नहीं फँसता, कषायों के प्रवाह में नहीं बहता, निन्दा-बुराई की कालिमा से अपने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जीवन को काला नहीं वनाता, और अपनी रूढ़-परंपराओं एवं जड़-मान्यताओं के खूंटों से अपने आप को बांध कर नहीं रखता। वास्तव में ज्ञानी एवं सम्यक्त्वी वह है, जो स्वयं के ज्ञान से स्व-स्वरूप को जानता है, उस पर श्रद्धा करता है, उस पर प्रतीति करता है, और उसे प्रकट करने की अथवा उस में स्थित होने की अभिरुचि रखता है, और उस में स्थित होने का प्रयत्न करता है।

बन्ध और राग-द्वेष :

बन्ध का कारण—राग-द्वेष है। राग-द्वेष आत्मा का स्व-भाव नहीं, विभाव है। स्व-भाव में बन्ध नहीं होता। बन्ध विभाव से होता है, यह मैं पहले बता चुका हूँ। विभाव परिणति क्यों और कैसे होती है, यह एक प्रश्न है? इसके समाधान में, आगम में कहा है, कि कर्म वन्ध का कारण राग-द्वेप है, और राग-द्वेष का कारण कर्मों का उदय है। कर्म के उदय से जीव में राग-द्वेष की परिणति होती है, और उस से नये कर्म वन्धते हैं। इसके लिए आगम में एक उदाहरण दिया है—अंडे से मुर्गी निकलती है, और मुर्गी से अण्डा उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मोह, तृष्णा, राग-द्वेष एवं कषाय से कर्म-वन्ध रूप अण्डे का जन्म होता है, और इस कर्म-वन्ध रूप अण्डे से विकारों का जन्म होता है।[1] अस्तु जो व्यक्ति पर-द्रव्य में एवं पर-द्रव्य के संयोग से मन में उद्‌बुद्ध होने वाले विभावों में अहंत्व एवं ममत्व वुद्धि रखता, अपनत्व-भाव रखता है, वह पुनः नये कर्मों का वन्ध करता है।

इतने विवेचन से यह स्पष्ट हो गया, कि बन्ध का कारण पदार्थ नहीं, राग-द्वेष हैं। याद रखिए, स्फटिक-मणि परिणमनशील है, फिर भी वह अपने आप रक्त-हरित आदि रंगों में परिणत नहीं होती। वह अपने

१ उत्तराध्ययन सूत्र, ३२, ६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उज्ज्वल-धवल रंग में ही परिणमन करती है। परन्तु जब उसके साथ जिस रंग-रूप के पुष्प एवं अन्य रंगवाले पदार्थों का संयोग सम्बन्ध होता है, तब वह उन रंग-बिरंगे पुष्पों एवं पदार्थों का संसर्ग पा कर उसी रंग-रूप की परिलक्षित होती है। इसी प्रकार शुद्ध-आत्मा परिणमनशील है, परन्तु वह स्वभाव से अपने स्व-भाव एवं अपनी पर्यायों में ही परिणमन करता है। वह स्वभाव से राग आदि विभावों के रूप में परिणत नहीं होता। परन्तु पर-द्रव्य एवं पर-पर्यायों तथा भावों का संसर्ग पा कर विभावों में परिणत होता है। आत्मा स्वभाव से अपने आप राग-द्वेष और मोह आदि भावों का एवं कर्म-बन्ध का कर्ता नहीं है और भोक्ता भी नहीं है। परन्तु पर के संयोग से विभाव में परिणत हो कर ही वह वैसा करता है। इस प्रकार राग-द्वेष एवं मोह के कारण वह कर्म-बन्ध करता है।

बन्ध के भेद :

बन्ध चार प्रकार का है—प्रकृति-बन्ध, स्थिति-बन्ध, अनुभाग-बन्ध और प्रदेश-बन्ध। प्रकृति का अर्थ है—स्वभाव। आने वाले कर्म ज्ञानावरण आदि किस स्वभाव के हैं, यह बताना प्रकृति-बन्ध। बंधने वाले कर्म की स्थिति-आयु कितनी है, अथवा कितने समय तक सत्ता में रहने के बाद उदय में आ कर अपना फल देगा, यह स्थिति-बन्ध है। बन्धने वाले कर्म का रस शुभ है या अशुभ, तीव्र है या मन्द, यह बताने वाला अनुभाग-बन्ध है। और आने वाले कर्म-पुद्गल का स्कंध कितने प्रदेशों वाला है, यह प्रदेश बन्ध है। आस्रव के द्वारा ज्ञानावरण आदि प्रकृति वाले कार्मण-वर्गणा के पुद्गल आते हैं और राग-द्वेष एवं मोह से युक्त जीव के शुभाशुभ एवं तीव्र-मन्द अध्यवास होतेहैं, उसी के अनुरूप रस का और स्थिति का बंध होता है। और उस स्थिति के पूर्ण होने पर वे अपना फल दे कर आत्म प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। इस प्रकार बंध में मुख्यता राग-द्वेष जन्य परिणामों की है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्जरा-तत्त्व

९

निर्जरा की परिभाषा :

जैन-दर्शन में कहा है, कि आस्रव के द्वारा कर्म आते हैं, और राग-द्वेष से उन का बन्ध होता है, और जब तक राग-द्वेष रहता है, तब तक आस्रव और बन्ध होता रहता है, और यही संसार है। परन्तु जब आत्मा स्व-स्वरूप का परिज्ञान करके स्वभाव में परिणत होता है, राग-द्वेष से हट कर वीतराग भाव में रमण करता है, तब कर्म-आगमन अथवा आस्रव रुक जाता है। आस्रव के रुक जाने पर बन्ध भी नहीं होता। इस साधना को संवर कहा है। संवर के द्वारा जीव नये कर्मों का आगमन रोक देता है। परन्तु पूर्व में आबद्ध कर्म तो रहते ही हैं। जब तक पूर्व में बन्धे हुए कर्म नष्ट नहीं होते, तब तक मोक्ष नहीं होता। जैसे तालाब में नालों के द्वारा बाहर से पानी आता है। नालों को बन्द कर देने से बाहर से पानी तो नहीं आता, परन्तु पहले से भरे हुए पानी को निकाले बिना तालाब खाली भी नहीं होता। तालाब के नालों को बन्द

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर देना संवर है, और उस में भरे हुए पहले पानी को निकाल कर फैंक देना निर्जरा है। निर्जरा के द्वारा साधक आत्मा रूपी तालाब में से कर्म रूप पानी को निकाल कर कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। आगम में एक देश से कर्म का क्षय करना निर्जरा कहा है। जिस साधना के द्वारा आत्म-प्रदेशों पर लगे हुए कार्मण-वर्गणा के पुद्गल खिर जाते हैं, झड जाते हैं, अलग हो जाते हैं, वह साधना निर्जरा है। आगम में तप को निर्जरा का साधन बताया है। तप रूपी अग्नि से साधक कर्म रूपी इंधन को जला कर नष्ट कर देता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है, कि साधक तप-साधना के द्वारा शुद्ध हो जाता है–"**तवेण परिसुज्झई।**"

निर्जरा के भेद :

आगम में तप दो प्रकार का बताया है–बाह्य तप और आभ्यन्तर-तप। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, काय-क्लेश और प्रतिसंलीनता यह छह प्रकार का बाह्य तप कहा है[१], और प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग, इन छह प्रकार के तपों को आभ्यन्तर-तप कहा है।[२] इस प्रकार बारह प्रकार की तप-साधना को कर्मों को नष्ट करने का साधन कहा है। बाह्य-तप में खान-पान के पदार्थों का पूर्णतः कुछ समय के लिए त्याग करने, कम खाने, रसों–दूध, दही, घी, शक्कर-गुड (मिष्टान्न) आदि–का त्याग करने, भिक्षा के लिए जाते समय मान-अपमान को सहने तथा अनुकूल-प्रतिकूल पदार्थों का उपभोग करने, लोच, गर्मी-शर्दी आदि के कष्टों को सहने तथा वस्त्र आदि की उपाधि को कम करने की मुख्यता है। परन्तु आभ्यन्तर-तप में आत्म-अवलोकन, विनम्र-भाव, अहंकार का त्याग, आत्म-स्वरूप का अध्ययन, पर-पदार्थ (शरीर) पर से ममत्व एवं आसक्ति का त्याग, और आत्म-चिन्तन की मुख्यता है।

---

१. उत्तराध्ययन ३०, ७-८.   २. उत्तराध्ययन ३०, ३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बाह्य पदार्थों को अथवा खाद्य पदार्थों को छोड देना, एक-दो दिन या उस से भी अधिक एक-दो महीने या छह महीने तक भूखे रहना, वस्त्र-पात्र कम कर देना या उन को छोड देना, इसीका नाम तप नहीं हैं। इससे भी कठोर बाह्य तप करने वालों को आगम में बाल-तपस्वी कहा है, उन के तप को अज्ञान तप कहा है। वस्तुतः तप वह है—चाहे बाह्य-तप हो या आभ्यन्तर-तप, जिस में साधक पर-पदार्थों पर से आसक्ति को हटाता है। पर की—भले ही वह मान-प्रतिष्ठा एवं यश प्राप्त करने या धन-वैभव एवं सुखों को प्राप्त करने की, इच्छा, तृष्णा या ममता हो, इस का परित्याग करना ही तप है। तप की परिभाषा करते हुए कहा है—इच्छा का निरोध करना, तृष्णा को रोकना, ममता के भावों को मन में उद्‌बुद्ध नहीं होने देना, आसक्ति के बीज को अंकुरित नहीं होने देना ही तप है—

" इच्छा-निरोधो तपः "

तप से निर्जरा होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है, कि साधक संयम और तप से पूर्व-आबद्ध कर्मों को क्षय करता है।[1] आगम में यह भी बताया है, कि राग-द्वेष, कषाय एवं मोह आदि बन्ध के कारण हैं। अतः इन कषायों एवं राग-द्वेष, आदि विकारों से रहित होकर की जाने वाली साधना से ही निर्जरा हो सकती है। क्यों कि जब तक जीव में बन्ध के कारण—राग-द्वेष आदि रहेंगे, तब तक बन्ध का कार्य रुक नहीं सकता, और जीव कर्म से रहित हो नहीं सकता। नये कर्मों के बन्ध को रोकने के लिए राग-द्वेष, कषाय एवं मोह की विभाव-धारा को रोकना अनिवार्य है, और पूर्व-आबद्ध कर्मों को नष्ट करने के लिए वीतराग-भाव में अथवा स्व-भाव में रमण करना आवश्यक है। विभाव से हट कर स्व-भाव में रमण करना ही तप है। इस प्रकार जैन दृष्टि से तप

१. उत्तराध्ययन सूत्र २८, ३६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अर्थ है—बाह्य-पदार्थों के त्याग के साथ, पर-वस्तुओं के त्याग के साथ मिथ्यात्व, कषाय, राग-द्वेष आदि विभावों का परित्याग करना, और निष्काम-भाव से तप-साधना करना। कामना एवं आसक्ति तथा अहंकार आदि विभावों के साथ किया जाने वाला तप बाह्य-तप है, वह तन को तपाता है, मन के विकारों को नहीं। तप से तपाना अवश्य है, परन्तु किस को? तन को नहीं, मन के विकारों को। मक्खन में से घी निकालने के लिए मक्खन को आग पर रखते हैं, तपाते हैं। क्यों तपाते हैं? उसे—घी को नष्ट करने के लिए नहीं तपाते, प्रत्युत मक्खन में घी के साथ जो छाछ मिली हुई है, उसे जला कर नष्ट करके शुद्ध घी को प्राप्त करने के लिए मक्खन को तपाते हैं। इसी प्रकार जीव को तप की आग में तपाने का एक ही अभिप्राय है, कि जीव में पर-संयोग के कारण जो विभाव एवं विकार की अशुद्ध पर्याय है, उसे नष्ट कर के शुद्ध-स्वरूप को प्रकट करना। इसलिए आप तप करें, परन्तु आहार-पानी के साथ कषायों का, ममत्व का, तृष्णा का, कामना का, इच्छा का परित्याग करें। इन विकारों का त्याग ही सच्चा एवं सम्यक्-तप है।

आगमों में निर्जरा दो प्रकार से होती है, ऐसा उल्लेख मिलता है—सकाम-निर्जरा, और अकाम-निर्जरा, अथवा ज्ञान-पूर्वक होने वाली निर्जरा और अज्ञान-पूर्वक होने वाली निर्जरा। इस के दूसरे प्रकार से भी दो भेद किए हैं—औपक्रमिक निर्जरा और अनौपक्रमिक-निर्जरा, अथवा अविपाक-निर्जरा और सविपाक-निर्जरा। तप-साधना के द्वारा जो कर्म अभी विपाकोन्मुख होकर उदय में नहीं आए, उन्हें समय से पूर्व उदय में ला कर फल दिए बिना ही नष्ट कर देना, औपक्रमिक या अविपाक-निर्जरा कहलाती है। और स्वाभाविक क्रम से कर्मों का समय पर उदय में आ कर और अपना फल दे कर झड जाना अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रति समय प्रत्येक जीव को होती ही है। परन्तु राग-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
द्वेष का सद्भाव होने से आवद्ध कर्म की निर्जरा के साथ जीव पुनः नये कर्म का वन्ध कर लेता है। इस प्रकार पुरातन कर्मों का स्थान नये कर्म ग्रहण कर लेते हैं, जिससे जीव वन्ध से मुक्त नहीं होता। परन्तु समय एवं आत्म-साधना के द्वारा कर्मों को रोक कर पूर्व-आवद्ध कर्मों को तप से नष्ट कर देना अविपाक-निर्जरा है, और यही आत्मा को कर्म-वन्धन से मुक्त करने का कारण है।

आगम में ज्ञान-पूर्वक तप-साधना की क्रिया से होने वाली निर्जरा को सकाम-निर्जरा कहा है। इस में साधक विवेक के साथ तप करता है। वह केवल तन को तपाने के लिए तप नहीं करता है, प्रत्युत इच्छा, आसक्ति एवं तृष्णा का निरोध करता है। वह इस वात का ध्यान रखता है, कि पर-भाव एवं पर-पदार्थ मेरे नहीं हैं, स्व-भाव एवं स्व-स्वरूप ही मेरा अपना है, इसलिए मेरे विचार एवं मेरी भावना स्व से हट कर पर में न अटक जाए, और पर-पुद्गलों एवं उनकी आसक्ति में न भटक जाए, इस प्रकार की जाने वाली तप-साधना ही निर्जरा का कारण है।

केवल यश-प्रतिष्ठा एवं आकांक्षाओं तथा कामनाओं की पूर्ति करने की भावना से किया जाने वाला तप-भले ही कितना ही कठोर एवं कितना ही लम्वा क्यों न हो, वाल-तप एवं अज्ञान-तप कहा गया है। आगम में उसे अकाम-निर्जरा का कारण कहा है। उस से आत्मा कर्म वोझ से हल्का नहीं भारी ही वनता है। क्यों कि उससे अहंकार वढता है, कामनाएँ वढती हैं, कषायों की अभिवृद्धि होती है, इसलिए उससे आस्रव का द्वार वन्ध नहीं होता, वल्कि खुला ही रहता है, और वन्ध की परंपरा चालू रहती है।

अनासक्त - भाव :

आसक्ति भोग है, और अनासक्ति तप है। भोजन का त्याग करके भी भोजन के प्रति आसक्ति रखना भोग ही है, और उससे वन्ध ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
होगा। परन्तु आसक्ति का त्याग करने पर, उस से वन्ध नहीं, निर्जरा होगी, इसलिए उसे तप कहा है। जैन-दर्शन में पदार्थों के प्रति आसक्ति नहीं रखने की भावना को त्याग कहा है, तप कहा है। और आचार्य रामानुज ने भी अनासक्त भावना को तप कहा है। गीता में भी अनासक्त एवं निष्काम भाव से किए जाने वाले कर्म को तप कहा है। स्वादों एवं रसना पर विजय प्राप्त करना ही सचमुच में तप है।

वैराग्य की कसौटी

आचार्य रामानुज के आश्रम में एक युवक आया, और तीन दिन वहीं रहा। आचार्य ने उसे अपने निकट बुला कर आने का कारण पूछा, तो उसने बताया, कि यह संसार कटु है, इसलिए मैं आपका शिष्य बनने के लिए आया हूँ। आचार्य मनोविज्ञान के परिज्ञाता थे। वे उसकी मन:स्थिति को पढ रहे थे। उन्होंने उस समय उसे निकट के गाँव में एक व्यक्ति को संदेश देने के लिए भेज दिया। और स्वयं आश्रम के निकट जो उसका गाँव था, उस में उस के घर गए। आचार्य ने उस युवक की पत्नी से उसके वैराग्य का कारण पूछा, और यह जानना चाहा, कि उसका वैराग्य सच्चा है या झूठा! पत्नी ने कहा—तीन दिन पूर्व भोजन के समय दाल-भाजी में नमक डालना भूल जाने के कारण वे आवेश में थाली फैंक कर यह कहते हुए घर से चले गए—मैं संन्यासी बन जाऊंगा। आचार्य समझ गए, कि उसका वैराग्य लडाई से उत्पन्न हुआ है, और उसका कारण स्वाद-लिप्सा रहा है। इस लिए वह वैराग्य नहीं। उसकी पत्नी को आश्वासन दे कर आचार्य अपने आश्रम में आ गए, और आश्रम के व्यवस्थापक से कह दिया, कि आज भोजनशाला को बन्द करके ताला लगा दो।

थोडी देर में वह युवक भी संदेश देकर लौट आया। उसे भूख लग रही थी। भोजन शाला को बन्द देख कर उसने आचार्य से भोजन के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सम्बन्ध में पूछा, तो आचार्य ने बताया, कि आज एकादशी का व्रत है, इसलिए भोजन नहीं बनेगा। वेचारे ने जैसे-तैसे व्रत का दिन पूरा किया। दूसरे दिन उसे साथ ले कर आचार्य भोजनशाला में गए, और उसे कहा—आज पिस्ते के लड्डू से पारणा करेंगे। आचार्य ने अपने एवं उसके दोनों के सामने दो हरे रंग के ताजे लड्डू रख दिए। आचार्य शान्त मन से लड्डू खाने लगे। उसे भूख लग रही थी, इसलिए लड्डू का बहुत बडा टुकडा तोड कर मुंह में ठूंस लिया। परन्तु जिह्वा पर रखते ही उसने थू-थू करके उसे थूक दिया, और आचार्य से कहा—आप तो पिस्ते का लड्डू बता रहे थे, पर यह तो नीम का लड्डू है। क्या इतना कटु पदार्थ खाया जाता है ?

आचार्य ने शान्त स्वर में कहा—तू संन्यासी वनने आया है, परन्तु अभी तक तुझसे जिह्वा का स्वाद नहीं छूटा। जव तक तुम्हारे मन में नीम और पिस्ते का भेद रहेगा, आसक्ति रहेगी, नीम पर द्वेष और पिस्ते पर राग रहेगा, तव तक संन्यास धर्म का कैसे पालन करेगा ? भेष को वदलना त्याग नहीं है, त्याग है—स्वाद की एवं पदार्थों की आसक्ति का त्याग करना। यह उपदेश सुनते ही उस का वैराग्य उड गया, और भाग कर घर आ कर पत्नी से कहा—जो कुछ वना है, वह खाने को दे दो। अव फिर कभी वैराग्य का नाम नहीं लूंगा।

व्यक्ति जव तक इन्द्रियों के विषय का त्याग नहीं कर सकता, ममता, तृष्णा एवं आसक्ति को नहीं छोड सकता, तव तक वह तप-साधना एवं अध्यात्म-साधना को कैसे साध सकेगा ? अध्यात्म-विचारक श्रीमद् रायचन्द्र ने कहा है— देह में रहते हुए भी जो देहातीत रहता है, अनासक्त रहता है, उस ज्ञानी को मेरा वन्दन हो—

"देहमां रहता छतां, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानीना चरणमां, वन्दन हो अनगणित ॥"

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगम में ऐसे ज्ञानी पुरुष को जो शरीर में रहते हुए भी वीतराग-भाव में रहते हैं, अनासक्त रहते हैं, कषायों से दूर, और सर्वथा दूर रहते हैं, सदेह-मुक्त एवं सयोगी-केवली कहा है। क्यों कि वह राग-द्वेष एवं विभावों तथा विकारों से मुक्त हो गया, इसलिए मुक्त ही है। वस्तुतः बन्ध के कारण का नाश करना ही मुक्ति है। पहले जीव शरीर में रहते हुए विकारों से मुक्त होता है, उसके बाद ही वह शरीर एवं योगों से मुक्त होता है। आज हम बातें तो बहुत ऊंची करते हैं, परन्तु आसक्ति, तृष्णा, विकल्प एवं विकारों को कितना छोडते है, यह समझने की बात है। विकल्प एवं विकारों का त्याग करना ही तप है।

पदार्थ और निर्जरा :

पदार्थों का उपभोग करना मात्र बन्ध नहीं है। पदार्थ अपने आपमें जड हैं। उनसे बन्ध नहीं होता। बन्ध होता है, उनके उपभोग के साथ जो राग-द्वेष के भाव हैं उनसे। ज्ञानी भी पदार्थों का उपभोग करता है, और अज्ञानी भी। वीतराग भी पदार्थों का उपभोग करता है, और सरागी भी। ज्ञानी पूर्व में आवद्ध कर्मों के कारण इन्द्रियों के द्वारा पदार्थों का उपभोग करता है, परन्तु उस की परिणति स्व-स्वरूप में होती है, इसलिए वह सब उसके लिए निर्जरा (कर्म-क्षय) का कारण बन जाता है। भोगावली कर्म शेष रहने के कारण वह निष्काम और अनासक्त-भाव से पदार्थों का उपभोग करता है, और पूर्व-बद्ध कर्म अपना फल दे कर खिर जाते हैं, आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं। जैसे कुशल वैद्य विधि पूर्वक विष का उपभोग करने पर भी मरने देता नहीं, उसी प्रकार पूर्व कर्मों के प्राप्त फल को समभाव पूर्वक भोगने पर भी ज्ञानी एवं प्रबुद्ध साधक नये कर्मों को नहीं बांधता है। क्यों कि पूर्व में बन्धे हुए कर्मों के उदय से प्राप्त भोग-उपभोग के साधनों में उसकी हेय बुद्धि रहती है, और अनागत

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के भोगों की उस की आकांक्षा नहीं रहती, इस लिए उसे भोग भोगने पर भी बन्ध नहीं होता। वह कर्म के निमित्त से आत्मा में उत्पन्न होने वाले और समय-समय पर नष्ट होने वाले वैद्य-वेदक भाव को वह जानता है, परन्तु वह न तो उनमें आसक्त होता है, और न उसे उनकी आकांक्षा ही है। बन्ध और उपभोग के निमित्त भूत संसार तथा देह और पदार्थ विषयक अध्यवसायों में ज्ञानी को राग-द्वेष होता ही नहीं। जैसे पंक में लिपटे हुए स्वर्ण पर काट नहीं चढता, उसी प्रकार समस्त पदार्थों में राग-हीन हो कर रहने वाले प्रबुद्ध साधक कर्मों के मध्य में रहकर भी उन से लिप्त नहीं होता। परन्तु अज्ञानी एवं राग-युक्त व्यक्ति कर्म-फल से लिप्त होता है। इस से यह स्पष्ट है, कि पदार्थ उसे बान्धते नहीं, उसे बान्धने वाला है—उसका अज्ञान एवं राग-भाव।

मेरे कहने का तात्पर्य यह है, कि तप निर्जरा का कारण है। तप से कर्मों का क्षय होता है। परन्तु साथ में इतना अवश्य कहूंगा, कि विवेक की आँखों को बन्द करके केवल रूढ-तप करके अपनी साधना को सफल मानने की भूल न करें। आप अपनी शक्ति के अनुसार बाह्य तप थोडा करें या अधिक करें, परन्तु जितना करें निष्काम भाव से करें, और उस समय कषायों से एवं राग-द्वेष से हटने का प्रयत्न करें। ज्ञान पूर्वक स्व-स्वरूप में लीन हो कर अनासक्त भाव से की गई एक नवकारसी अज्ञान एवं कामना पूर्वक किए गए मास-मास के तप से अधिक महत्त्व-पूर्ण है, वह अनन्त कर्मों की निर्जरा करने वाली है। अतः जो भी क्रिया करें, तप करें, सामायिक, पौषध एवं प्रतिक्रमण करें ज्ञान एवं विवेक पूर्वक करें, तो वह अवश्य ही निर्जरा का कारण होगा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्ष-तत्त्व

१०

मोक्ष की परिभाषा :

मोक्ष का अर्थ है—वन्धन से मुक्त होना। मोक्ष आत्मा की शुद्ध-पर्याय है। इस अवस्था में जीव एवं आत्म-प्रदेश पर के संयोग से पूर्णतः मुक्त हो जाते हैं। आत्मा के असंख्यात प्रदेश में से एक भी प्रदेश ऐसा नहीं रहता, जो कर्म-आवरण से आवृत रहा हो या पर के संयोग-सम्वन्ध से युक्त हो। क्यों कि वन्ध के कारण राग-द्वेष हैं, अतः राग-द्वेष एवं मोह का नाश करने पर वन्ध होता नहीं और बन्ध के रोकने के वाद निर्जरा के द्वारा पूर्व-वद्ध समस्त कर्मों का नाश कर देने पर आत्मा पूर्णतः शुद्ध हो जाता है। कर्म, कर्म-वन्ध के कारण एवं कर्म-जन्य साधनों के अभाव को मोक्ष कहते हैं। बन्ध का विचार करने मात्र से अथवा वन्ध का अभाव हो जाए और पूर्व-वद्ध कर्म नष्ट हो जाए, इतने मात्र से बन्ध नष्ट नहीं होता। पर-भाव से हट कर स्व-भाव में स्थिर रहने पर ही व्यक्ति वन्धन से छुटकारा पाता है। आत्मा की इस शुद्ध, विशुद्ध एवं परम शुद्ध

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पर्याय को मोक्ष, मुक्ति, निर्वाण और परम-शान्ति कहा जाता है—यह आत्मा का अपना स्व-स्वरूप ही है।

शुद्ध आत्म-स्वरूप में स्थिर होने की साधना मोक्ष की साधना है, और इस से भिन्न संसार की साधना है। जब तक जीव की पर-द्रव्यों में कर्तृत्व-बुद्धि रहती है, तब तक आत्मा अपने शुद्ध-स्वरूप को प्रकट नहीं कर पाता, बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता।

सर्व विशुद्ध-विज्ञान :

जैन-दर्शन षड्-द्रव्यों को स्वतन्त्र मानता है। आत्म-द्रव्य किसी अन्य द्रव्य से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः वह किसी अन्य द्रव्य का कार्य नहीं है। वह अपने से भिन्न किसी अन्य द्रव्य को उत्पन्न नहीं करता, इसलिए वह किसी अन्य द्रव्य का कारण भी नहीं है। अतः जीव को जड कर्म का कर्ता कहना कथमपि संगत नहीं है। कर्म जड हैं, पौद्गलिक हैं। पुद्गल द्रव्य स्वतन्त्र है। जीव न तो उस का निर्माता है, और न उसमें परिवर्तन करता है। जीव पुद्गल रूप से परिणमन नहीं करता, और पुद्गल जीव रूप से परिणमन नहीं करता। जीव का परिणमन अपनी पर्यायों में होता है, और पुद्गल का अपनी पर्यायों में। यदि जीव पुद्गल का कर्ता है, या उस का पुद्गल रूप में परिणमन होता है, तो फिर पुद्गल भी जीव बन जाएगा। फिर जड-चेतन बन जाएगा अथवा चेतन जडत्व को प्राप्त हो जाएगा। परन्तु जैन-दर्शन इस बात को स्वीकार नहीं करता। वह यह मानता है, कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने स्वरूप में रहता है, और अपनी पर्यायों में ही परिणमन करता है। इसलिए जैन-दर्शन आत्मा को पर-द्रव्यों का, पुद्गलों का एवं पर-निमित्तक भावों-विभावों का कर्ता एवं भोक्ता नहीं मानता। यही आत्मा का सर्व-विशुद्ध-विज्ञान है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस विशुद्ध-विज्ञान से अनभिज्ञ व्यक्ति पर-स्वभाव में स्थित हो कर कर्म-फल भोगता है। परन्तु ज्ञानी उदय में आए हुए कर्म-फल को जानता है, परन्तु उसके भोग की अनुभूति नहीं करता। सांप शक्कर और मिश्री से युक्त मधुर दूध पी कर भी जहरीला बना रहता है। सांप के विषमय स्वभाव के कारण अमृत भी उसके उदर में पहुँच कर जहर में परिणत हो जाता है। इसी प्रकार अज्ञानी एवं जडवादी केवल कर्म-काण्ड को मानने वाला व्यक्ति शास्त्रों का, आगम-साहित्य का, वीतराग-वाणी का अनुशीलन करके भी कर्म एवं कर्म-फल के व्यामोह का त्याग नहीं करता। उसकी दृष्टि वीतराग-भाव एवं स्व-स्वरूप में स्थित होने पर नहीं, प्रत्युत कर्म एवं कर्म फल पर लगी रहती है। वह संयम की क्रियाओं का पालन इस भाव से करता है, कि इससे जग में मान-सम्मान एवं पर-भव में स्वर्ग मिलेगा। वह परिग्रह एवं पदार्थों का तथा अब्रह्मचर्य का त्याग करता है, परन्तु साथ में यह आसक्ति रख कर, स्वर्ग में अत्यधिक ऋद्धि, सम्मति एवं वैभव मिलेगा, अनेक देवांगनाएँ तथा विविध प्रकार के भोग भोगने को मिलेंगे। वीतराग-वाणी का अमृत पा कर भी वह विष रूप बना रहा, और विष को ही महत्व देता रहा। परन्तु ज्ञानी कर्म के भले-बुरे फल को तथा आत्म-स्वरूप को जानता है। वह यह जानता है, कि कर्म-जन्य फल मेरा नहीं है। मेरा स्वरूप इस से भिन्न है। इस लिए ज्ञानी एवं प्रबुद्ध साधक सुख-दुःख रूप अच्छे-बुरे फल में अहंत्व-ममत्व-बुद्धि स्थापित न करके, वह केवल उन्हें जानता है। वह द्रष्टा बन कर देखता है, ज्ञाता बन कर ज्ञेय का ज्ञान करता है, परन्तु उसके भोग में रस नहीं लेता।

वेदान्त-दर्शन आत्मा को ब्रह्म-स्वरूप मानता है। आत्मा पूर्णतः शुद्ध है। जीव की अशुद्ध दशा जो दिखाई देती है, वह माया के कारण है। जीव शुद्ध है, ब्रह्म स्वरूप है। परमार्थ दृष्टि से वह अशुद्ध नहीं है। जो कुछ दिखाई देता है, वह माया के कारण है, और माया असत्य है, मिथ्या है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांख्य-दर्शन भी यह मानता है, कि पुरुष-आत्मा कर्म का कर्ता नहीं है। इसलिए उसे वन्ध नहीं होता। प्रकृति ही कर्म का कर्ता है। कर्म का वन्ध प्रकृति में ही होता है। पुरुष तो शुद्ध-बुद्ध है। इस प्रकार वेदान्त की परमार्थ-दृष्टि, सांख्यक प्रकृति एवं पुरुष का भेद-विज्ञान, और जैन-दर्शन की निश्चय-दृष्टि एवं निश्चय-नय-विशुद्ध-आत्म-तत्त्व का निरूपण करते हैं। फिर भी जैन-दृष्टि और वेदान्त एवं सांख्य-दृष्टि में कुछ अन्तर है। वेदान्त माया को मिथ्या कहता है, परन्तु जैन-दर्शन कर्म को मिथ्या नहीं मानता। सांख्य प्रकृति को कर्म का कर्ता मानता है, और आत्मा को भोक्ता। परन्तु जैन-दर्शन ऐसा नहीं मानता है। क्यों कि जो कर्ता नहीं, वह भोक्ता भी नहीं हो सकता। यह कथमपि संभव नहीं है, कि कर्म कोई करे, और उसका फल अन्य भोगे! जैन-दर्शन इस सम्बन्ध में यह मानता है, कि निश्चय-दृष्टि से जीव कर्म-पुद्गलों का कर्ता एवं भोक्ता नहीं है। कर्म-संयोग से जो वैभाविक परिणति होती है, उसीसे कर्म का वन्ध होता है, और आवद्ध कर्म अपना फल दे कर अलग हो जाते हैं। अतः आत्मा एकान्त रूप से अकर्ता नहीं है। जैन-दर्शन एकान्त-दृष्टि को स्वीकार नहीं करता। इसलिए व्यवहार-दृष्टि एवं व्यवहार-नय से जीव कर्म का कर्ता भी है, और भोक्ता भी है। भले ही पर-संयोग से वैभाविक परिणति होती है, परन्तु होती जीव में ही है। इसलिए जैन-दर्शन अनेकान्त-दृष्टि से विचार करता है।

ज्ञान का स्वभाव :

ज्ञान ज्योतिर्मय है। उस का स्वभाव है, ज्ञाता को ज्ञेय पदार्थों के स्वरूप को दिखा देना। दीपक का स्वभाव है, कि वह घट-पट आदि पदार्थों को प्रकाशित कर दे। पदार्थों को प्रकाशित करने मात्र से उस के प्रकाश में विकृति नहीं आती। जब उस के ऊपर रंग-बिरंगे कागज

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लगा देते हैं, तब वह भी रंग-बिरंगा दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में उस का प्रकाश रंग-बिरंगा नहीं है। इसी प्रकार ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय-पदार्थों एवं द्रव्यों को जानने मात्र का है। परन्तु ज्ञेय को जानने मात्र से ज्ञान में विकार उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है। वीतराग एवं सिद्ध अपने अनन्त ज्ञान में ज्ञेय को जानते हैं, फिर भी उनका ज्ञान विकृत नहीं होता। यदि ज्ञेय को जानने मात्र से ही ज्ञान में विकृति का आना माना जाए, तो वीतराग का ज्ञान भी शुद्ध-विशुद्ध नहीं रहेगा, वह भी विकृत हो जाएगा। परन्तु वह विकृत नहीं होता है, क्यों कि वहाँ विकृति का कारण नहीं है। जब ज्ञाता ज्ञान के द्वारा ज्ञेय को जान कर उस में राग-द्वेष करता है, तब वह ज्ञान अशुद्ध एवं विकृत होता है। विकृति को उत्पन्न करने वाला राग-द्वेष है। इसलिए राग-द्वेष युक्त अशुद्ध एवं विकारमय ज्ञान ही बन्ध का कारण है, और उस ज्ञान-पर्याय को आगम में अशुद्ध एवं मिथ्या पर्याय कहा है। इसलिए आगम में एवं अध्यात्म-शास्त्र में कहा है—तुम जानो, परन्तु राग-द्वेष मत करो। पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करो, ज्ञेय को जानो, परन्तु उस में न तो राग करो, और न उन पर द्वेष करो। राग-द्वेष करने से बन्ध होता है, जानने मात्र से नहीं। अतः केवल ज्ञाता बनो। यदि केवल ज्ञाता बने रहोगे, तो ज्ञान के शुद्ध स्वभाव में विकृति नहीं आएगी।

अज्ञान-चेतना और ज्ञान-चेतना :

शुद्ध ज्ञान से भिन्न भावों अथवा पर-संयोग से उत्पन्न होने वाले भावों में अहंत्व एवं ममत्व बुद्धि रखना, उन्हें अपने भाव मानना यही अज्ञान है, मिथ्यात्व है, विभाव है। अज्ञान दो प्रकार का है—कर्म-चेतना एवं कर्म-फल चेतना। ज्ञान से भिन्न भावों में इस प्रकार की बुद्धि रखना, अथवा यह अनुभव करना—मैं इसे करता हूँ, कर्म-चेतना है। और यह अनुभूति करना-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं इसको भोगता हूँ, कर्म-फल-चेतना है। ज्ञान के साथ कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के अहंकार को जोड़ना ही अज्ञान है, और यह दोनों प्रकार अज्ञान चेतना हैं, और संसार के बीज हैं, बन्ध के कारण हैं। ज्ञान-चेतना (शुद्ध-चेतना) क्या है? इसके समाधान में अध्यात्म-शास्त्र एवं समयसार तथा आगमों में कहा है—अपने आप को अपने आप से जानना ही शुद्ध-ज्ञान-चेतना है। जो प्रबुद्ध-आत्मा पूर्वकाल में अज्ञान से बान्धे हुए कर्मों के फल को उन का स्वामी बन कर उन्हें नहीं भोगता तथा अपने स्वरूप में तृप्त रहता है, वह सर्व-कर्म-सन्यासी एवं सर्व-कर्म-फल-सन्यासी अपने शुद्ध-विशुद्ध एवं परम-शुद्ध ज्ञान-स्वभाव को प्राप्त करता है। इसलिए अपने स्वरूप को जानो, अपने स्वरूप का चिन्तन करो, अपने स्वरूप का ध्यान करो, और अपने स्वरूप में स्थित बनो। यही मुक्ति है, और यही मोक्ष का मार्ग है।

मोक्ष और ज्ञान :

वैशेषिक-दर्शन का कहना है, कि संसार में आत्मा के साथ ज्ञान रहता है, परन्तु मोक्ष में ज्ञान नहीं रहता। ज्ञान का अभाव होना ही मोक्ष है। वह ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है, परन्तु संसार में स्थित आत्मा में मानता है, मोक्ष में नहीं। यह मान्यता गलत है। ज्ञान आत्मा का गुण है, और गुण वह है, जो कभी उससे अलग नहीं होता। यह सत्य है, कि संसारी जीव में राग-द्वेष से अनुरंजित जो अशुद्ध ज्ञान है, वह मोक्ष में नहीं रहता। परन्तु ज्ञान-मात्र का अभाव नहीं होता। यदि ज्ञान का अभाव मान लें, तो फिर आत्मा चेतन न रह कर जड़ बन जाएगा। इसलिए जैन-दर्शन आत्मा को ज्ञान शून्य नहीं मानता। ज्ञान आत्मा का गुण है, वह मोक्ष में भी रहता है। मुक्ति या मोक्ष का अर्थ ही यह है—पूर्ण एवं शुद्ध ज्ञान को प्राप्त करना, और ज्ञान के द्वारा ज्ञेय पदार्थों का ज्ञाता-मात्र रहना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मोक्ष और निर्वाण :

बौद्ध-दर्शन में निर्वाण शब्द का प्रयोग मिलता है। दीपक की तरह बुझ जाने को निर्वाण कहते हैं। क्लेशों एवं रागद्वेष के बुझने के स्थान में आत्मा का बुझना ही निर्वाण समझ लिया है। जैन-दर्शन आत्म-दीप के बुझने को निर्वाण नहीं मानता। वहाँ ज्ञान ज्योति प्रज्वलित रहती है। उस पर जो राग-द्वेष का विकार आ गया था, उसे हटा कर शुद्ध-ज्योति को प्रकट करना ही निर्वाण है। जैन-दर्शन में विशेष रूप से मोक्ष या मुक्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। जिस का सीधा-सा अर्थ है—छूटना, मुक्त होना। अनादि काल से आत्मा जिन कर्म-बन्धनों से आबद्ध है, उनको काट कर पूर्णतः स्वतन्त्र बन जाना ही मोक्ष है। कर्मों के क्षय या नाश करने का अर्थ भी इतना ही है, कि कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों को आत्म-प्रदेशों से अलग कर देना, न कि उनका आत्यन्तिक विनाश कर देना। किसी भी सत् पदार्थ का अत्यन्त विनाश नहीं होता, न कभी हुआ है, और न कभी होगा। पर्यायान्तर होना ही 'नाश' कहा गया है। जो कर्म-पुद्गल अमुक आत्म-द्रव्य से संयुक्त होने के कारण आत्म-गुणों को आवृत करने के कारण कर्मत्व-पर्याय को धारण किए हुए थे, उनसे मुक्त होने पर उनकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार आत्मा कर्म-बन्धन से मुक्त हो कर सिद्ध या मोक्ष पर्याय को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गल भी कर्मत्व पर्याय से मुक्त हो जाते हैं। वैसे सिद्ध शिला में लोक के अग्र भाग में जहाँ सिद्ध स्थित हैं, वहाँ पुद्गल एवं उसके स्कंध भी हैं, उनका आत्म-प्रदेशों से संस्पर्श भी होता है, परन्तु सिद्धों में राग-द्वेष-नहीं होने से उनको बन्ध नहीं होता, और उन पुद्गलों की भी कर्मत्व पर्याय नहीं होती। मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है, कि बन्ध का कारण राग-द्वेष है, यही संसार है। अतः राग-द्वेष से मुक्त होना, संसार से, कर्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वन्धन से मुक्त होना है, मोक्ष एवं सिद्धत्व को प्राप्त करना है। यह आत्मा की परम-विशुद्ध पर्याय है।

मोक्ष के भेद :

मोक्ष आत्मा की परम शुद्ध पर्याय है। उस के भेद नहीं होते। संसारी आत्मा के जो भेद-प्रभेद आगमों में उपलब्ध होते हैं, वे मोह के क्षयोपशम भाव की तरतमतापर आधारित हैं। परन्तु मुक्त आत्मा में मोह का अस्तित्व ही नहीं रहता, फिर भी मोह से मुक्त होते ही आत्मा सिद्धत्व को प्राप्त नहीं भी करता है। जब तक आयु-कर्म शेष रहता है, तब तक वह सयोग अवस्था में रहता है। इसलिए मुक्ति अथवा मोक्ष के आगमों में दो भेद किए गए हैं—सदेह-मुक्ति और विदेह-मुक्ति। शरीर में रहते हुए राग-द्वेष से मुक्त होना सदेह-मुक्ति है, और शरीर से मुक्त हो जाना विदेह-मुक्ति है। अरिहन्त सदेह-मुक्त है, और सिद्ध विदेह-मुक्त। अरिहन्तों के शरीर रहता है, और सिद्धों के शरीर नहीं होता।

आत्मा दशम गुणस्थान में मोह-कर्म का क्षय कर के क्षपक श्रेणी से बारहवें गुणस्थान को प्राप्त करता है। वहाँ वीतराग होते हुए भी ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय का क्षय न होने के कारण छद्मस्थ रहता है। परन्तु वहाँ वह ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म का क्षय करके तेरहवें गुणस्थान में अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख और अनन्त-शक्ति को प्राप्त करता है। परन्तु वहाँ वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म शेष रहता है। इस कारण अरिहन्त चलते हैं, बैठते हैं, उपदेश देते हैं, आहार-विहार भी करते हैं, परन्तु राग-द्वेष से रहित और ज्ञाता हो कर रहने के कारण उनके नये कर्मों का बन्ध नहीं होता। इसलिए उन्हें सदेह-मुक्त कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परन्तु आयु कर्म के समाप्त होते ही, उस के साथ वेदनीय, नाम, और गोत्र कर्म का क्षय कर के, तेरहवें गुणस्थान के अन्त में मन, वचन और काय योग का निरोध करते हुए चौदहवें अयोग-गुणस्थान को प्राप्त करते हैं। वहाँ कर्म-जन्य योगों को त्याग करके अन्तिम श्वासोच्छ्वास के साथ पूर्णतः शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त करते हैं। यह विदेह-मुक्ति है। सिद्धत्व को प्राप्त करना ही विदेह मुक्ति है। और यही अध्यात्म-साधना का चरम-लक्ष्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्व-विवेचन

११

ज्ञान और क्रिया :

जैन-दर्शन एवं अध्यात्म-साधना का मूल उद्देश्य है—कर्म-बन्धन से मुक्त होना। इसके लिए आगमों में सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान एवं सम्यक्-चारित्र की समन्वित साधना बताई है। वेदान्त-दर्शन एकान्त रूप से तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने की बात कहता है। वह क्रिया को महत्त्व नहीं देता। ब्रह्म के स्वरूप को जान लेना ही ब्रह्मत्व को प्राप्त करना है। परन्तु मीमांसक-दर्शन ज्ञान की बात नहीं करता। वह कहता है—वेदों में जिस यज्ञ-याग आदि क्रिया-काण्ड का विधान है, उसके अनुरूप कर्म करने से मुक्त हो जाओगे। तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिए व्यर्थ में समय न खो कर क्रिया करना ही धर्म है। एक पक्ष ज्ञान मात्र से मुक्ति मानता है, तो दूसरा पक्ष केवल क्रिया को ही मुक्ति का कारण स्वीकार करता है। जैन-दर्शन दोनों ही पक्ष के इस एकान्तवाद को स्वीकार नहीं करता। ज्ञान-मात्र से मुक्त होने की यह मान्यता भी गलत है, और केवल क्रिया-काण्ड ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुक्ति का मूल आधार है, यह मानना भी गलत है। तत्त्व एवं मुक्ति के स्वरूप को जानने मात्र से आत्मा मुक्त नहीं हो जाता, जब तक वह आत्मा की उस शुद्ध-पर्याय में अपने आपको स्थित नहीं करता है। और ज्ञान के अभाव में की जाने वाले क्रिया भी उसे पथ-भ्रष्ट भी कर देती है। इसलिए जैन-दर्शन ज्ञान और क्रिया दोनों की समन्वित साधना से सिद्धत्व की प्राप्ति मानता है। इतना तो स्पष्ट है, कि क्रिया के साथ ज्ञान की प्रमुखता है। तत्त्व-ज्ञान एवं सम्यक्-ज्ञान होने पर ही उस के साथ की जाने वाली क्रिया सम्यक् कहलाती है। क्रिया क्रिया है, वह अपने आप-में न सम्यक् है और न मिथ्या। यदि क्रिया करने वाले का ज्ञान सम्यक है, तो उस ज्ञान पूर्वक की जाने वाली क्रिया को सम्यक्-क्रिया या सम्यक्-चारित्र कहते हैं। और जिस का ज्ञान मिथ्या है, उस मिथ्या-दृष्टि द्वारा की जाने वाली क्रिया को—भले ही आगम के अनुरूप भी क्यों न हो, मिथ्या-क्रिया अथवा मिथ्या-चारित्र कहा है। क्रिया के कारण ज्ञान सम्यक् एवं मिथ्या नहीं होता, परन्तु ज्ञान की शुद्ध-अशुद्ध पर्याय के अनुरूप चारित्र सम्यक् एवं असम्यक् होता है। इसलिए तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है।

तत्त्व-ज्ञान :

जैन-आगमों में नव-तत्त्व माने हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, बन्ध, निर्जरा और मोक्ष। इन में दो तत्त्व मुख्य हैं—जीव और अजीव। स्थानांग सूत्र में कहा है—द्रव्य दो हैं—जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य। नव-तत्त्व कहें या षड्-द्रव्य मानें, सब इन दो में समाविष्ट हो जाते हैं। जीव और अजीव के अतिरिक्त सातों तत्त्व जीव और अजीव (पुद्गल) के संयोग अथवा वियोग से बने हैं। षड्-द्रव्य में धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल ये पाँचों अजीव-द्रव्य हैं। अजीव-तत्त्व या

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अजीव-द्रव्य में इन सब का समावेश हो जाता है। वस्तु के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उनके भेदों का विस्तार कर के समझाया है। परन्तु मुख्यता दो की ही है—जीव और अजीव। कहीं इन्हें तत्त्व कहा है, और कहीं पर द्रव्य। यह विवेचन शैली का अन्तर है। परन्तु द्रव्य या तत्त्व के रूप में बताने का उद्देश्य एक ही है, कि जीव और पुद्गल के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कर के आत्मा अपने स्व-स्वरूप में स्थित हो। इसके लिए अपना स्वरूप क्या है? और पर का स्वरूप क्या है? स्व से हट कर पर में परिणत होने से आत्मा संसार में कैसे भटकता है, बन्धन में कैसे बन्धता है? और स्व-स्वरूप में स्थित होने पर बन्धन से कैसे मुक्त होता है? तत्त्व-ज्ञान में यही बताया गया है।

जीव चेतन है, ज्ञान गुण से संपन्न है। अजीव अचेतन है, जड है, उस में ज्ञान का अभाव है। इसलिए जीव ही स्व और पर क स्वरूप को समझ सकता है, अजीव एवं जड नहीं। यह तत्त्व-ज्ञान जीव के लिए है, जड के लिए नहीं। जीव एवं आत्मा ही तत्त्व-ज्ञान को प्राप्त कर के स्व-स्वरूप को और पर-स्वरूप को जान कर स्व में स्थित होने का प्रयत्न करता है, और उसमें सफल भी होता है। अपनी साधना से साध्य को सिद्ध करने के लिए सर्व-प्रथम तत्त्वों के स्वरूप को एवं स्व-पर के भेद-विज्ञान को जानना आवश्यक है।

संयोगी - वियोगी - तत्त्व :

संसारी जीव कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों के संयोग से पर-भाव या विभाव में परिणत होता है, तब आस्रव के द्वारा शुभ और अशुभ कर्म आते हैं, और राग-द्वेष के कारण उन आगत शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध होता है। शुभ कर्मों को पुण्य कहते हैं, और अशुभ कर्मों को पाप। शुभ और अशुभ कर्मों का मिथ्यात्व, प्रमाद, अविरति, कषाय, और योग के कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
आना पुण्य और पाप-आस्रव है और उनका बन्धना बन्ध तत्त्व है। इस प्रकार पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध ये चारों तत्त्व संयोगी-तत्त्व कहलाते हैं।

आत्म-साधना के द्वारा आने वाले कर्मों को रोक देना संवर है। संवर नये कर्मों का आत्मा के साथ संयोग नहीं होने देता। और तप-साधना के द्वारा साधक पूर्व-आवद्ध कर्मों की निर्जरा करके उन्हें आत्म-प्रदेशों से अलग कर देता है। और जब आत्म-साधना द्वारा संपूर्ण कर्म आत्म-प्रदेशों से अलग हो जाते हैं, तब आत्मा कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त होता है, मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार संवर, निर्जरा और मोक्ष-ये तीनों वियोगी-तत्त्व हैं। संवर और निर्जरा की साधना से कर्म-पुद्गलों का आत्मा के साथ जो संयोग था, वह नष्ट हो जाता है। पुद्गलों का आत्मा से वियोग होना ही मोक्ष है। आत्मा की पूर्णतः शुद्ध-विशुद्ध एवं परम शुद्ध पर्याय पुद्गल एवं पौद्गलिक-भावना से वियोग होने पर ही आत्मा को प्राप्त होती है। परम आनन्द की स्थिति पुद्गलों के संयोग में नहीं, वियोग में है। संयोग में आसक्त व्यक्ति चिन्ताओं से घिरा रहता है, और दुःखों के प्रवाह में प्रवहमान रहता है। और वियोग अवस्था में आत्मा अपने अनन्त ज्ञान में लीन रहता है। अपने स्वरूप में रहना यही परम आनन्द है। और इस प्रकार का तत्त्व-ज्ञान एवं स्वरूप-वोध ही विशुद्ध ज्ञान-विज्ञान है। क्यों कि वह सब चिन्ताओं से मुक्त करता है। काव्य की भाषा में कहूँ—

"बडा वह ज्ञान, जिससे,
व्यर्थ की चिन्ता नहीं होती।"

ज्ञेय, हेय और उपादेय :

तत्त्वों का विभाजन विभिन्न प्रकार से किया गया है। तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। तत्त्व सात हैं—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वन्ध और मोक्ष। इन के साथ पुण्य-पाप को जोड देने से नव हो जाते हैं। तत्त्व दो प्रकार के हैं-संयोगी-तत्त्व और वियोगी-तत्त्व। नव-तत्त्व तीन भागों में विभक्त हैं-ज्ञेय, हेय और उपादेय। वैसे सभी तत्त्व ज्ञेय हैं। सब का ज्ञान करना आवश्यक है। परन्तु यहाँ जीव और अजीव को ज्ञेय माना है। ज्ञाता अपने ज्ञान के द्वारा जीव और अजीव इन ज्ञेय-द्रव्यों को जान लेता है, तो फिर उस के लिए अन्य द्रव्यों एवं अन्य तत्त्वों को जानना शेष नहीं रहता। सब-कुछ इन दो में आ जाता है, इसलिए जीव और अजीव ज्ञेय हैं।

पुण्य-पाप, आस्रव और वन्ध—ये चारों हेय हैं। क्यों कि इनके संयोग से ही जीव संसार में परिभ्रमण करता है। पुण्य अथवा शुभ में राग रखना, आसक्त होना और पाप-अशुभ में द्वेष करना यही आस्रव एवं वन्ध का कारण है, और यही संसार है। और इन का परित्याग करना ही संसार से मुक्त होना है। इसलिए अध्यात्म-शास्त्र एवं आगमों में इन चारों को हेय—त्यागने योग्य कहा है।

संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये तीनों उपादेय हैं। क्यों कि जीव संवर की साधना से आस्रव के द्वारा आनेवाले शुभाशुभ कर्मों को रोकता है, नये कर्मों का आत्मा के साथ संयोग नहीं होने देता। और निर्जरा के द्वारा पुरातन कर्मों का क्षय करके आत्मा की शुद्ध-पर्याय मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए ये तीनों तत्त्व स्वभाव में स्थित करने वाले हैं। अतः ये उपादेय हैं, ग्रहण करने योग्य हैं।

इस प्रकार आगम में विविध अपेक्षाओं एवं दृष्टियों से तत्त्वों का विभाजन एवं निरूपण किया गया है। इसका एकमात्र उद्देश्य यही है, कि आत्मा पर-स्वरूप के व्यामोह का परित्याग कर के स्व-स्वरूप में स्थित बने। यही तत्त्व-ज्ञान का सार है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

१२

अध्यात्म-साधना क्या है? अध्यात्म और साधना दोनों एक हैं, या भिन्न-भिन्न हैं? वस्तुतः अध्यात्म स्वयं साधना है। और साधना स्वयं अध्यात्म है। इस अर्थ को स्पष्ट रूप से समझने के लिए अध्यात्म और साधना के स्वरूप को समझना आवश्यक है। अध्यात्म का अर्थ है—आत्म-स्वरूप, विशुद्ध ज्ञान पर्याय एवं स्व-स्वभाव। और साधना का अर्थ है—विशुद्ध आत्म-ज्योति को प्राप्त करने की एक पद्धति। जिस उपाय से, जिस साधन से, जिस तरीके से स्व-स्वरूप को प्राप्त किया जाए-उसको साधना कहते हैं। अतः अध्यात्म-साधना का अर्थ यह हुआ है, कि अपने स्वयं के ज्ञान से स्वयं को जान कर स्वयं में स्थिर होना अथवा पर-पदार्थ एवं पर-भाव की आसक्ति और ममता का परित्याग करके अपने आत्म-स्वरूप में स्थिर होने का प्रयत्न करना, एवं वीतराग भाव में परिणमन करना।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राग-द्वेष आत्मा के स्वभाव नहीं, विभाव हैं। क्यों कि शुद्ध आत्मा में न राग होता है, और न द्वेष होता है। उसमें न क्रोध, मान, माया और लोभ होता है, और न विषय वासना का अस्तित्व रहता है। वह विकारों एवं विकल्पों से शून्य है। कार्मण-वर्गणा के पुद्गलों से संयुक्त आत्मा में पुद्गलों के संयोग से राग-द्वेष, कषाय, मोह, विषय-विकार एवं विकल्पों का जन्म होता है, और इनसे फिर नये कर्म बन्धते हैं। यह ऐसी स्थिति है, कि समुद्र का पानी सूर्य की किरणों की गर्मी से वाष्प वन कर ऊपर उठता है, फिर बादल के रूप में आकाश में छा कर पुनः वरसता है, और नदियों के रूप में वहता हुआ फिर से समुद्र में आ समाता है। समुद्र के कारण वर्षा होती है, और वर्षा होने के कारण समुद्र है। इसी प्रकार कर्म क संयोग होने से आत्मा विभाव में परिणत होती है, और विभाव परिणति से कर्म का बन्ध होता है। जब तक आत्मा स्व-स्वरूप एवं स्व स्वभाव को जान कर विभाव का त्याग नहीं करेगा, तव तक वह संसार स, एवं कर्म-बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट होता है, कि राग-द्वेष भौतिक संयोग से मन में एवं चिन्तन में उद्बुद्ध होने वाले विभाव हैं। अतः राग-द्वेष को बढाने वाली प्रवृत्ति एवं साधना अध्यात्म नहीं, भौतिक है अथवा बाह्य प्रवृत्ति है, द्रव्य-साधना है। वह प्रवृत्ति, वह क्रिया और वह साधना अध्यात्म एवं आत्म-साधना है, जिससे राग-द्वेष, कषाय, मोह, वासना, विकार एवं विकल्प कम होते हैं, और वीतराग भाव की अभिवृद्धि होती है। मोक्ष-मार्ग एवं अध्यात्म-पथ की साधना में राग भी त्याज्य है, और द्वेष भी त्याज्य है, उस में एक-मात्र वीतराग भाव ही उपादेय है।

तीन मित्र घूमते-फिरते बगीचे में गए। वहाँ एक गुलाब के पौधे के सामने खडे हो गए। गुलाब के चटकीले रूप-रंग, सुन्दर-सुहावने आकार एवं उस की मधुर गंध से आकर्षित हो कर उनमें से एक व्यक्ति ने गुलाब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्राप्त करने के लिए अपना हाथ आगे बढाया। वह गुलाब पर इतना मुग्ध हो गया, कि उसे प्राप्त किए बिना उसे चैन नहीं पड रहा था।

दूसरे व्यक्ति की दृष्टि गुलाब से अधिक उस के कांटों पर थी। वह गुलाब को प्राप्त करना चाहता था, परन्तु कांटों से डर रहा था। इसलिए वह कांटों की निन्दा कर रहा था। उस के भद्दे रूप और आकार तथा उनकी चुभन के प्रति उसके मन में घृणा एवं तिरस्कार की भावना थी। अतः वह अपने प्रथम मित्र को रोकते हुए कहने लगा—किस ओर हाथ बढा रहे हो ? इन कांटों से हाथ बिंध जाएगा ? ये दुष्ट कांटे बहुत खराब हैं ?

तीसरा मित्र मौन भाव से दोनों मित्रों के कार्य को, पुद्‌गलों के स्वरूप को देख रहा था। वह विचार कर रहा था, कि राग-द्वेष की परणति आत्मा को स्व-भाव से पर-भाव की ओर अथवा पुद्‌गलों की ओर कितना भटका देती है ? वह तटस्थ भाव से दृष्टा बन कर सब कुछ देख रहा था, और ज्ञाता बन कर अपने ज्ञान के द्वारा संसार एवं उसके स्वरूप को जानने का प्रयत्न कर रहा था। उसकी दृष्टि में गुलाब का रूप-रंग एवं गंध पुद्‌गलमय था और कांटे भी पुद्‌गलमय थे। उसे न तो गुलाब पर राग था, और न कांटों पर द्वेष।

प्रथम व्यक्ति गुलाब के सौन्दर्य एवं माधुर्य को देख कर उस पर इतना आसक्त हो गया, कि वह कांटों को भूलकर फूल तोडने को उतावला बन गया। फूल को प्राप्त करने की भावना उस के मन में तब जागृत हुई, जब उस की परिणति राग में हुई। जब तक मन में राग-भाव नहीं होता, तब तक किसी वस्तु को ग्रहण करने की एवं प्राप्त करने की इच्छा एवं भावना ही नहीं होती। राग व्यक्ति को वस्तु में आसक्त बना देता है।

दूसरे व्यक्ति की दृष्टि गुलाब के सौन्दर्य पर नहीं, कांटों पर थी। वह उसकी चुभन से डर रहा था। इसलिए वह उसकी बुराई को देख रहा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
था, और उसकी निन्दा कर रहा था। जब दृष्टि में द्वेष भाव का विकार होता है, तव व्यक्ति का ध्यान बुराई की ओर जाता है, और वह उसकी भरपेट निन्दा करता है।

आज परिवार, समाज, संघ, धर्म, राष्ट्र एवं विश्व में ऐसे व्यक्ति अधिक हैं, जो व्यक्ति एवं समाज की अच्छाई को नहीं, बुराई को देखते हैं। दोष-दृष्टि से युक्त व्यक्ति हमेशा छिद्रों को ही देखता है। यह उस का दोष नहीं, उस की विभाव में परिणति का दोष है। जैसे चींटी को स्फटिक मणी से वने फर्श एवं दीवारों वाले सुन्दर एवं दिव्य-भव्य भवन में छोड दो, तव भी वह वहाँ भी छिद्र को ही खोजेगी। उसे न तो स्फटिक मणी की परख है और न उस के मन में उसका कोई महत्त्व एवं मूल्य है। उस के लिए महत्त्वपूर्ण यदि कुछ है, तो केवल छिद्र। वैसे ही पर-छिद्रान्वेषी व्यक्ति साधारण साधक एवं उस के विचारों में तो क्या, यदि साक्षात् वीतराग भी उसे मिल जाए तो वह उनके जीवन में भी दोष एवं छिद्र देखने का प्रयत्न करेगा।

अतः राग की दृष्टि भी वुरी है, और द्वेष की दृष्टि भी। प्रलोभन में पड कर आगे कदम बढाना भी आत्मा को गिराने वाला है, और भय से डर कर पीछे भागना भी स्वयं का पतन करने वाला है। बाह्य दृष्टि में आगे बढने वाले को वीर और पीछे हटने वाले को कायर कहते हैं। परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से राग-द्वेष दोनों बन्धन हैं। अध्यात्म-साधक के लिए पुण्य भी बन्धन है, और पाप भी बन्धन है। पुण्य में राग-द्वेष शुभ है, और पाप में अशुभ, इतना ही अन्तर है, परन्तु शुभ और अशुभ दोनों ही विभाव है, इसलिए बन्ध के कारण हैं। अतः पुण्य के कार्य में अथवा शुभ कार्य में भी धर्म नहीं है, क्यों कि वहाँ राग-भाव है। धर्म वीतराग-भाव में है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व्यक्ति को विकास करने का अधिकार है, परन्तु यदि अपने विकास के साथ दूसरे का विनाश होता हो, तो वह वास्तव में विकास नहीं, पतन है। अपने आपको उत्कृष्ट एवं महान् सिद्ध करने के लिए निन्दा, बुराई एवं घृणा फैला कर उत्कृष्ट बनने का दिखावा करना स्वयं पतन के महागर्त में गिरना है। विकास दूसरे को गिरा कर नहीं, स्वयं को उठा कर किया जाता है। वास्तव में आत्म-विकास एवं अध्यात्म-विकास बाहर से नहीं आता, अन्दर से ही प्रस्फुटित होता है। जब राग-द्वेष कम होते हैं अथवा समाप्त हो जाते हैं, तब आत्मा स्व-स्वरूप की ओर बढ़ती है, और अपने स्वरूप की ओर कदम बढ़ाना तथा अपने आप में स्थित होना ही आत्मा का विकास है। आगम में कहा है—केवल बाह्य क्रिया-काण्डों में उलझने वाला, और उसी में अटकने वाला श्रेष्ठ नहीं है। श्रेष्ठ वह है—जो उदय में आ रहे क्रोध को क्षमा के द्वारा उपशान्त करता है, उदय में आ रहे मान का, विनम्र-भाव के द्वारा शमन करता है, उदय में आ रही माया को सरलता के माध्यम से नष्ट कर देता है, और उदय में आ रहे लोभ को संतोष को द्वारा जीत लेता है, तथा उदय में आ रहे राग-भाव को वीतरागता के द्वारा क्षय कर देता है। यह साधना ही सर्व-श्रेष्ठ-साधना है, यह साधना ही अध्यात्म-साधना है, यह साधना ही वीतराग-भाव को प्राप्त करने की आत्म-साधना है, और यह साधना ही मोक्ष का मार्ग है। इस पथ पर चला कर ही व्यक्ति अपने साध्य को सिद्ध कर सकता अथवा मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इस दृष्टि से अध्यात्म में साधना और साधना में अध्यात्म समाविष्ट है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आगमों में तत्त्व-वर्णन

१३

जैन-आगमों में तत्त्व का वर्णन दो रूपों में उपलब्ध होता है– षड्-द्रव्य रूप में और नव-तत्त्व रूप में। आगमों में द्रव्यानुयोग का जो वर्णन है, उस का क्रम-बद्ध और व्यवस्थित रूप में वर्णन प्रज्ञापना सूत्र में बडी ही सुन्दर पद्धति के साथ किया गया है। भगवती सूत्र में भी अनेक स्थानों पर द्रव्यानुयोग का वर्णन किया गया है। स्थानांग और समवायांग में एवं उत्तराध्ययन सूत्र में भी द्रव्यानुयोग का वर्णन उपलब्ध होता है। द्रव्य-विचार करते हुए भगवती सूत्र में कहा गया है, कि द्रव्य के दो भेद हैं– जीव-द्रव्य और अजीव द्रव्य।[1] अजीव-द्रव्य के भेद एवं प्रभेद इस प्रकार हैं–रूपी और अरूपी। रूपी पुद्गल हैं, और अरूपी में धर्म, अधर्म, आकाश और काल हैं। सब मिला कर षड् द्रव्य होते हैं। इन में से पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे जाते हैं। क्यों कि उनमें प्रदेशों के समूह के कारण

१. भगवती सूत्र, २५, २; २५,४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवयवी-द्रव्य की कल्पना संभव है।[1] पर्याय का विचार करते हुए कहा गया है, कि पर्याय भी दो प्रकार के हैं—जीव-पर्याय और अजीव-पर्याय।[2] जैन-दर्शन में द्रव्य और पर्याय का कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद स्वीकार किया गया है। एकान्त भेद और एकान्त अभेद जैन-दर्शन को मान्य नहीं है। द्रव्य और पर्याय का भेद है, अथवा अभेद ? इस प्रश्न को लेकर भगवान महावीर के जो विचार हैं, उसकी संक्षिप्त विवेचना करना यहाँ पर आवश्यक है, जिससे वस्तु-स्थिति स्पष्ट हो जाए।

द्रव्य और पर्याय का भेदाभेद :

भगवती सूत्र में पार्श्व-शिष्यों और महावीर-शिष्यों में हुए एक संवाद का वर्णन है। पार्श्व-शिष्यों का कहना था, कि अपने प्रतिपक्षी सामायिक एवं उसका अर्थ नहीं जानते। तब प्रतिपक्षी श्रमणों ने उन्हें समझाया, कि आत्मा ही सामायिक है, और आत्मा ही सामायिक का अर्थ है।[3] आत्मा द्रव्य है, और सामायिक उसका पर्याय। इस कथन से यह फलित होता है, कि भगवान महावीर ने द्रव्य और पर्याय के अभेद का समर्थन किया था, किन्तु उनका अभेद समर्थन सापेक्ष है। क्यों कि द्रव्य-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय में अभेद है। अन्यत्र उन्होंने पर्याय और द्रव्य के भेद का भी कथन किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है, कि अस्थिर पर्याय के नाश होने पर भी द्रव्य स्थिर रहता है।[4] यदि द्रव्य और पर्याय का एकान्त अभेद स्पष्ट होता, तो वे पर्याय के नाश के साथ तदभिन्न द्रव्य का भी नाश प्रतिपादन करते। इसी प्रकार

---

१. भगवती सूत्र, २, १०, ११७; स्थानांग-सूत्र, ४४१.
२. भगवती सूत्र, २५, ५; प्रज्ञापना–पद, ५.
३. भगवती सूत्र, १, ९, ७७.
४. भगवती सूत्र, १, ९, ८०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
दूसरे प्रसंग में पर्याय-दृष्टि की प्रधानता से द्रव्य और पर्याय के भेद का कथन किया गया है। आत्म-द्रव्य और उस के ज्ञान परिणाम को भगवान महावीर ने द्रव्य-दृष्टि से अभिन्न बताया है, जिसका पता आचारांग सूत्र और भगवती सूत्र के वाक्यों से चलता है।[1] ज्ञान तो आत्मा का एक परिणाम है, जो सदा बदलता रहता है। इस से ज्ञान का आत्मा से भेद भी माना गया है। क्यों कि एकान्त अभेद होता, तो ज्ञान-विशेष के नाश के साथ आत्मा का नाश भी मानना प्राप्त होता। अतः पर्याय दृष्टि से आत्मा और ज्ञान का भेद भी है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण भगवती सूत्र गत आत्मा के आठ भेदों से हो जाता है।[2] उस के अनुसार परिणामों के भेद से आत्मा का भेद मानकर आत्मा के आठ भेद माने गए हैं। इन आठ प्रकारों में द्रव्य आत्मा को छोडकर शेष सात आत्म-भेद कषाय योग, उपयोग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य रूप पंर्यायों को ले कर किए गए हैं। इस विवेचन में द्रव्य और पर्यायों को भिन्न माना गया है। अन्यथा आत्मा के आठ भेद किस प्रकार से हो सकते हैं। प्रश्न किया गया है, कि जिसको द्रव्य-आत्मा है, उसको कषाय-आत्मा आदि है या नहीं? अथवा जिसको कषाय-आत्मा आदि है, उसको द्रव्य-आत्मा है या नहीं? इन प्रश्नों के उत्तर में कहा गया है, कि द्रव्य-आत्मा के होने पर यथायोग्य कषाय आदि आत्मा होते भी हैं, और नहीं भी होते। किन्तु कषाय-आत्मा आदि के होने पर द्रव्य-आत्मा अवश्य होती है। यह कथन द्रव्य और पर्याय के भेद को ही सूचित करता है।

द्रव्य का स्वरूप :

द्रव्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है, कि सामान्य-द्रव्य दो प्रकार का है—तिर्यक और ऊर्ध्वता। जब काल कृत नाना अवस्थाओं

---

१. आचारांग सूत्र, १, ५, ५; भगवती सूत्र, १२, १०, ४६८.

२. भगवती, सूत्र, १२, १०, ४६७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
में किसी द्रव्य विशेष का एकत्व या अन्वय अथवा अविच्छेद या ध्रुवत्व विवक्षित हो, तब तक एक अन्वित, अविच्छिन्न, ध्रुव अथवा शाश्वत अंश को ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्य कहा जाता है। एक ही काल में स्थिति नाना देश में वर्तमान नाना द्रव्यों में अथवा द्रव्य विशेषों में जो समानता प्रतीत होती है, वही तिर्यक-सामान्य द्रव्य है।

जब यह कहा जाता है, कि जीव भी द्रव्य है, धर्मास्तिकाय भी द्रव्य है, अधर्मास्तिकाय भी द्रव्य है, अथवा यह कहा जाता है, कि द्रव्य दो प्रकार का है—जीव और अजीव। तब इन सभी कथनों में द्रव्य का अर्थ तिर्यक-सामान्य है। परन्तु जब यह कहा जाता है, कि जीव दो प्रकार का है—संसारी और सिद्ध। संसारी जीव के पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय आदि। पुद्गल चार प्रकार का है—स्कंध, स्कंध-देश, स्कंध-प्रदेश और परमाणु आदि, तब इन वाक्यों में जीव और पुद्गल शब्द तिर्यक सामान्य-द्रव्य के बोधक हैं। परन्तु जब यह कहा जाता है, कि जीव द्रव्यार्थिक से शाश्वत है और भावार्थिक से अशाश्वत है,[1] तब जीव-द्रव्य का मतलब ऊर्ध्वता सामान्य से है। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है, कि अव्यु-च्छित्ति-नय की अपेक्षा से नारक शाश्वत है, तब अव्युच्छित्ति नय का विषय जीव भी ऊर्ध्वता-सामान्य होता है। जब जीव की गति-आगति का विचार होता है, अर्थात् जीव मर कर कहाँ जाता है, या जन्म के समय वह कहाँ से आता है, आदि विचार प्रसंग में सामान्य जीव-शब्द अथवा जीव-विशेष नारक आदि शब्द की ऊर्ध्वता सामान्य रूप जीव-द्रव्य के ही बोधक हैं। जब यह कहा जाता है, कि पुद्गल तीन प्रकार का है[2]—प्रयोग-परिणत, मिश्र-परिणत, विस्रसा-परिणत, तब पुद्गल शब्द

१. भगवती सूत्र, १, १, १७; १, ८, ७२.
२. भगवती सूत्र, ८, १.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

का अर्थ–तिर्यक-सामान्य रूप द्रव्य है। परन्तु जब यह कहा जाता है, कि पुद्गल, अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालों में शाश्वत है, तब पुद्गल शब्द से ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्य विवक्षित है। इसी प्रकार जब एक ही परमाणु-पुद्गल के विषय में यह कहा जाता है, कि वह द्रव्यार्थिक-दृष्टि से सार्थक है, तब वहाँ परमाणु पुद्गल शब्द से ऊर्ध्वता सामान्य द्रव्य ही लिया जाता है।[1] इस प्रकार आगमों में द्रव्य के स्वरूप का जो प्रतिपादन किया गया है, वही वर्णन आगे चलकर अध्यात्म-ग्रन्थों में अथवा न्याय-शास्त्र के ग्रन्थों में किया गया है। मूल आगम और ग्रन्थों की प्रतिपादन शैली में भेद होते हुए भी तथ्य एवं सत्य एक ही है।

पर्याय का स्वरूप :

जैसे सामान्य दो प्रकार का है, वैसे पर्याय के भी दो प्रकार हैं–तिर्यक्-द्रव्य अथवा तिर्यक सामान्य के आश्रय से जो विशेष विवक्षित हो, वे तिर्यक्-पर्याय हैं, और ऊर्ध्वता-सामान्य रूप ध्रुव, एवं शाश्वत द्रव्य के आश्रय से जो पर्याय विवक्षित हों वे ऊर्ध्वता पर्याय हैं। नाना देश में स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न जो द्रव्य विशेष हैं, वे तिर्यक-द्रव्य की पर्याय हैं, उन्हें विशेष भी कहा जाता है। नाना काल में एक ही शाश्वत-द्रव्य की ऊर्ध्वता-सामान्य की जो नाना अवस्थाएँ हैं, जो नाना विशेष हैं, वे ऊर्ध्वता-सामान्य रूप द्रव्य के पर्याय भी हैं, उन्हें परिणाम भी कहा जाता है। पर्याय एवं विशेष शब्द के द्वारा उक्त दोनों प्रकार की पर्यायों का बोध आगमों में कराया गया है, किन्तु परिणाम शब्द का प्रयोग केवल ऊर्ध्वता-सामान्य रूप द्रव्य के पर्यायों के अर्थ में ही किया गया है।

---

१. भगवती सूत्र, १४, ४, ५१२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
गौतम ने जब भगवान से पूछा, कि जीव-पर्याय कितने हैं? संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त? तब भगवान ने उत्तर दिया, कि जीव-पर्याय अनन्त हैं। इस का अभिप्राय बताते हुए उन्होंने कहा, कि असंख्यात नारक हैं, असंख्यात असुरकुमार हैं, एवं असंख्यात पृथ्वी-काय हैं, और यावत असंख्यात वायुकाय हैं। अनन्त वनस्पति-काय हैं, असंख्यात वेन्द्रिय हैं, असंख्यात मनुष्य हैं, असंख्यात वाण-व्यन्तर हैं, और अनन्त-सिद्ध हैं। अतः जीव-पर्याय अनन्त हैं। यह कथन प्रज्ञापना के विशेष पद में तथा भगवती सूत्र में है। जहाँ द्रव्य के भेदों की चर्चा है, वहाँ उन भेदों को प्रज्ञापना गत पर्याय भेदों के समान समझ लेने को कहा है। जीव और अजीव के पर्यायों की चर्चा करने वाले समुच्चय उस प्रज्ञापना के पद का नाम विशेष पद दिया गया है। इससे यही फलित होता है, कि प्रस्तुत चर्चा में पर्याय शब्द का अर्थ विशेष है। इस प्रकार मूल आगमों में द्रव्य और पर्याय की विस्तृत चर्चा उपलब्ध है। यहाँ पर उसका दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। गुण का कथन द्रव्य में समाविष्ट हो ही जाता है। अतः उसका विशेष विवरण यहाँ नहीं दिया गया है। द्रव्य, गुण और पर्याय ये परस्पर भिन्न भी हैं और अभिन्न भी हैं।

आगमों में नय :

आगमों में भिन्न-भिन्न प्रकार से नयों का वर्णन किया गया है। आगमों में नय को आदेश तथा दृष्टि भी कहा गया है। अनेकान्तवाद को अथवा सप्त-भंगीवाद को समझने के लिए नयों का ज्ञान परम-आवश्यक है। जैन-आगमों के आधार पर नय, आदेश, दृष्टि और अपेक्षाओं का संकलन करना आवश्यक है, जिनको लेकर भगवान महावीर ने तत्कालीन दर्शनों और पक्षों की चर्चा करके अनेकान्तवाद की प्रतिष्ठा की थी। इन आदेशों को चार भागों में बांटा गया था—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। एक ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वस्तु के विषय में जो भिन्न-भिन्न मतों की सृष्टि होती है, उसमें द्रष्टा की रुचि और शक्ति, दर्शन का साधन, दृश्य की दैशिक और कालिक स्थिति, द्रष्टा की दैशिक और कालिक स्थिति और दृश्य का स्थूल एवं सूक्ष्म रूप आदि अनेक कारण हैं। भगवान महावीर ने सभी प्रकार की अपेक्षाओं का साधारणीकरण करने का प्रयत्न किया है, और मध्यम-मार्ग से सभी प्रकार की अपेक्षाओं का वर्गीकरण उक्त चार भेदों में किया है। भगवान महावीर ने अपने युग में अनेक विरोधों का इन्हीं चार दृष्टियों और वस्तु के चार रूपों के आधार पर परिहार किया था। भगवान महावीर ने जब धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों को–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण दृष्टि से पाँच प्रकार का बताया, तब भाव विशेष गुण दृष्टि को भिन्न स्थान दिया है, यह स्पष्ट है।[1] क्यों कि गुण वस्तुतः भाव अर्थात् पर्याय ही है। इसी प्रकार भगवान ने जब कारण के पाँच प्रकार–द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव के भेद से बताए तब वहाँ भी प्रयोजनवशात भाव विशेष भव को भिन्न स्थान दिया है।[2] अतएव वस्तुतः मध्यम मार्ग से उक्त चार दृष्टियाँ ही भगवान को अभिमत हैं, यह यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक :

जिन चार दृष्टियों का वर्णन किया गया है, उनका संक्षेप दो नयों में किया गया है–द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। पर्यायार्थिक को ही भावार्थिक कहा गया है। जैन आगमों में सात मूल नयों की गणना भी की गई है।[3] उन सातों के मूल में तो ये दो नय ही हैं? किन्तु जितने भी वचन मार्ग हो सकते हैं, उतने ही नय हैं। आचार्य सिद्धसेन के इस

---

१. भगवती सूत्र, २, १०.
२. भगवती सूत्र, १९, ९.
३. अनुयोगद्वार सूत्र, १५६, स्थानांग सूत्र, ५५२,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
मत को मान कर यदि असंख्य नय की कल्पना की जाए, तब भी उन सभी नयों का समावेश इन दो नयों में हो जाता है।[1] भगवती सूत्र में पर्यायार्थिक के स्थान में भावार्थिक शब्द भी आता है, जो सूचित करता है, कि पर्याय और भाव एकार्थक है।

द्रव्यार्थिक और प्रदेशार्थिक :

जिस प्रकार वस्तु को द्रव्य और पर्याय दृष्टि से देखा जाता है, उसी प्रकार द्रव्य और प्रदेश की दृष्टि से देखा जा सकता है।[2] पर्याय और प्रदेश में क्या अन्तर है? यह एक विचारणीय प्रश्न है? एक ही द्रव्य की नाना अवस्थाओं को तथा एक ही द्रव्य के देश-काल कृत नाना रूपों को पर्याय कहा जाता है। जब कि द्रव्य के घटक अर्थात् अवयव ही प्रदेश कहे जाते हैं। भगवान महावीर के अनुसार कुछ द्रव्यों के प्रदेश नियत हैं, और कुछ अनियत। सभी देश और सभी काल में जीव के प्रदेश नियत हैं, वे कभी घटते भी नहीं, और कभी बढ़ते भी नहीं, उतने ही रहते हैं। यहीं बात धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय के सम्बन्ध में भी है। किन्तु पुद्गल स्कंध के प्रदेशों का नियम नहीं है। क्यों कि उनमें न्यूनाधिकता होती रहती है। प्रदेश-अंश और द्रव्य-अंशी का परस्पर तादात्म्य. होने से एक ही वस्तु द्रव्य और प्रदेश विषयक भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखी जा सकती है।

निश्चय और व्यवहार :

प्राचीन काल से दार्शनिकों में यह संघर्ष चला आता है, कि वस्तु का कौन-सा रूप सत्य है—जो इन्द्रिय-गम्य है, वह अथवा इन्द्रियातीत है, वह? उपनिषदों के कुछ ऋषि प्रज्ञावाद का आश्रय करके मानते रहे हैं, कि

---

१. सन्मति तर्क, ३, ४७. २. भगवती सूत्र, १८, १०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माद्वैत ही परम तत्त्व है, उसके अतिरिक्त दृश्यमान सब शब्द मात्र हैं, विकार मात्र हैं, अथवा नाम मात्र हैं, क्यों कि उसमें कोई तथ्य नहीं हैं। किन्तु उस समय भी सभी दार्शनिकों का यह मत नहीं था। चार्वाक इन्द्रिय-गम्य वस्तु को ही परम-तत्त्व मानते रहे थे। इस प्रकार प्रज्ञा और इन्द्रिय के प्राधान्य को ले कर दार्शनिकों में विरोध चल रहा था। इसी विरोध का समन्वय भगवान महावीर ने व्यवहार-नय और निश्चय-नय के आधार पर किया था। अपने अपने क्षेत्र में ये दोनों नय सत्य हैं। व्यवहार सभी मिथ्या ही है, और निश्चय ही सत्य है, यह भगवान को मान्य नहीं है। भगवान का अभिप्राय यह है, कि व्यवहार में इन्द्रियों के दर्शन की प्रधानता से वस्तु के स्थूल रूप का निर्णय होता है,। पर स्थूल रूप के अतिरिक्त वस्तु का सूक्ष्म रूप भी होता है, जो इन्द्रिय-गम्य न हो कर केवल प्रज्ञा-गम्य है। पहला व्यवहार-मार्ग है, और दूसरा निश्चय-मार्ग।

गणधर गौतम ने भगवान महावीर से पूछा कि भन्ते! फणित (प्रवाही गुड) में कितने वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। इसके उत्तर में उन्होंने कहा, कि गौतम! मैं इस प्रश्न का उत्तर दो नयों से देता हूँ—व्यवहार और निश्चय। व्यवहारिक नय की अपेक्षा से तो वह मधुर कहा जाता है, परन्तु निश्चय-नय की अपेक्षा से वह पाँच वर्ण, दो गन्ध, पाँच रस और आठ स्पर्शों से युक्त है। भ्रमर के विषय में भी उनका कथन है, कि व्यवहार नय की अपेक्षा से भ्रमर कृष्ण है, परन्तु दृष्टि से उस में पाँच वर्ण, दो गंध, पाँच रस और आठ स्पर्श होते हैं। इस प्रकार उन्होंने उक्त प्रसंग में अनेक विषयों को ले कर व्यवहार और निश्चय-नय से वस्तु-तत्त्व का विश्लेषण किया है।[1] इस प्रकार मूल आगमों में बीज रूप में निश्चय-नय, और व्यवहार-नय का कथन उपलब्ध होता

---

१ भगवती सूत्र, १८, ६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। इसको आधार बना कर ही उत्तरकालीन जैन परंपरा के आचार्यों ने व्यवहार-नय और निश्चय-नय के द्वारा द्रव्य और तत्त्वों का जो विश्लेषण किया है, वह वर्णन आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में चरम सीमा पर पहुँच गया है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भी निश्चय-नय प्रधान वर्णन अपने सन्मति-तर्क ग्रन्थ में किया है। मध्य काल के अनेक आचार्यों ने भी आचार्य सिद्धसेन और आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के आधार पर निश्चय-नय और व्यवहार-नय तथा उपादान और निमित्त के आधार पर वस्तु तत्त्व का जो विश्लेषण किया है, वह अत्यन्त ही सुन्दर है।

मूल आगमों में षड्-द्रव्य, पंच-अस्तिकाय, सप्त-तत्त्व और नव-पदार्थों का जो वर्णन संक्षेप में उपलब्ध होता है। उत्तर काल के आचार्यों ने उसी का आधार ले कर कहीं संक्षेप में और कहीं विस्तार में वर्णन किया है। यही कारण है, कि द्रव्य अथवा तत्त्व के सम्बन्ध में दो भेद, पाँच भेद, छह भेद, सात भेद और नव भेद के रूप वर्णन आज भी उपलब्ध हैं। परन्तु मूल तत्त्व का जो स्वरूप वर्णन है, उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं है। यह बात अलग है, कि किसी आचार्य ने निश्चय को प्रधानता दी, तो किसी ने व्यवहार को प्रधानता दी। परन्तु उनके मूल उद्देश्य में किसी भी प्रकार का भेद नहीं है, यह एक सत्य एवं तथ्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चय और व्यवहार

१५

जैन-दर्शन में जिन षड्-द्रव्यों का निरूपण किया गया है, वे इस प्रकार हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इन में से काल को छोड कर शेष पाँच को अस्तिकाय भी कहा जाता है। षड्-द्रव्यों में से धर्म, अधर्म, आकाश और काल में चार द्रव्य एक क्षेत्रावग्राही हो कर भी सदा काल परस्पर संश्लेष को लिए हुए बन्ध रूप संयोगी पर्याय से शून्य हो कर ही रहते हैं। परन्तु जीव पुद्गल की स्थिति भिन्न प्रकार की है। जो जीव संयोग रूप बन्ध पर्याय से मुक्त हो गए हैं, वे तो मुक्त होने के क्षण से ले कर सदा काल संश्लेष रूप बन्ध से रहित हो कर ही रहते हैं। और अभी मुक्त नहीं हुए है, वे वर्तमान में तो संश्लेष रूप बन्ध से मुक्त हैं ही, भविष्य में भी जब तक वे मुक्त नहीं होंगे, तब तक उनकी यह संश्लेष रूप बन्ध पर्याय बनी रहेगी। सब जीवोंकी इस संश्लेष रूप बन्ध पर्याय का अन्त होना ही चाहिए, यह एकान्त नियम नहीं है। क्यों कि जो अभव्य और अभव्यों के समान ही भव्य हैं, उनके तो इस

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
संश्लेष रूप वन्ध-पर्याय का कभी अन्त होता ही नहीं है। परन्तु जो भव्य हैं, वे कभी न कभी इस संश्लेष रूप बन्ध पर्याय का अन्त करके अवश्य मुक्त होंगे। पुद्गलों की व्यवस्था भी इसी प्रकार की है। अन्तर केवल इतना है, कि बहुत से पुद्गल सदा काल बन्ध-बद्ध रहते हैं, और बहुत से पुद्गल वन्ध कर छूट भी जाते हैं, और छूट कर पुनः बन्ध भी जाते हैं।

कार्य और कारण की दृष्टि से भी जैन-दर्शन में षड्-द्रव्यों पर विचार किया गया है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा शुद्ध जीव एवं पुद्गल परमाणु हैं, उनकी सब पर्याय पर-निरपेक्ष होती है। और जो पुद्गल-स्कंध तथा संसारी जीव हैं, उनकी पर्याय स्व-पर सापेक्ष होती है। षड् द्रव्यों की पर-निरपेक्ष पर्यायों की 'स्वभाव-पर्याय' संज्ञा है। तथा जीवों और पुद्गलों की जो स्व-पर सापेक्ष पर्याय होती है, उनकी "विभाव-पर्याय" संज्ञा है। षड्-द्रव्यों की अर्थ-पर्यायों और व्यंजन-पर्यायों के होने में यही नियम जान लेना चाहिए। इतना अवश्य है, कि संसारी जीवों की भी स्वभाव सन्मुख होकर जिस गुण की जो स्वभाव-पर्याय प्रकट होती है, वह भी पर-निरपेक्ष होती है।

जैन-दर्शन में वस्तु का कथन दो प्रकार से किया जाता है—भेद-वृत्ति से और अभेद-वृत्ति से। कहीं पर वस्तु स्थिति का कथन भेद-प्रधान होता है, और कहीं पर अभेद-प्रधान। परन्तु जहाँ पर अभेद-वृत्ति का कथन है, वहाँ पर भेद का अभाव नहीं होता, बल्कि भेद गौण हो जाता है। और जहाँ पर भेदवृत्ति से कथन किया गया है, वहाँ पर अभेद का अभाव नहीं होता, बल्कि उस की गौणता हो जाती है। इस प्रकार भेद और अभेद को ले कर शास्त्रों में प्रत्येक वस्तु का कथन उपलब्ध होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नयों के भेद :

जैन-दर्शन में प्रत्येक वस्तु सामान्यात्मक और विशेषात्मक होती है। वस्तु के सामान्य रूप को और विशेष रूप को ग्रहण करने वाले नय भी दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। आगम में नयों के नैगम आदि जो सात भेद दृष्टि गोचर होते हैं, वे सभी इन्ही दो नयों के अवान्तर भेद हैं। द्रव्यार्थिक नय का अर्थ है—द्रव्य-प्रधान नय और पर्यायार्थिक नय का अर्थ हैं—पर्याय-प्रधान नय। उक्त दोनों नयों को निश्चय-नय और व्यवहार-नय भी कहा जाता है। आगम में व्यवहार-नय को अभूतार्थ और निश्चय-नय को भूतार्थ कहा है। इस में से भूतार्थ का आश्रय करने वाला जीव निश्चय से सम्यक्-दृष्टि है।[1] व्यवहार-नय नियम से सब का सब अभूतार्थ होने से अभूत अर्थ को प्रकाशित करता है, तथा शुद्ध-नय एक-मात्र भूतार्थ होने से भूत अर्थ को प्रकाशित करता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भूतार्थ और अभूतार्थ शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए जो बताया है, उस का भाव यह है, कि जिस प्रकार कीचड-युक्त जल, जल का स्व-भाव नहीं हैं। इसलिए कीचड-युक्त जल को जल समझना अभूतार्थ है। और जो जल निर्मली (फटकडी) के द्वारा कीचड से अलग कर लिया जाता है, वह मात्र जल होने से भूतार्थ है। इसी प्रकार कर्म-संयुक्त अवस्था आत्मा का स्वभाव न होने से अभूतार्थ है, और शुद्ध-दृष्टि द्वारा कर्म-संयुक्त अवस्था से ज्ञायक स्वभाव आत्मा को अलग करके उसे ही आत्मा समझना भूतार्थ है। इस प्रकार भूतार्थ और अभूतार्थ शब्दों का स्पष्टीकरण करके अन्त में वे कहते हैं, कि व्यवहार-नय अभूतार्थ ग्राही है, अतः वह अनुसरण करने योग्य नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार में कहा है, कि भूतार्थ-नय से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य-पाप,

---

१. समयसार, ११.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आस्रव-संवर, निर्जरा-बंध और मोक्ष ये नव-तत्त्व सम्यक्त्व हैं।[1] यहाँ पर भूतार्थ-नय से परिज्ञात नव-पदार्थों को सम्यक्-दर्शन कहा है। क्यों कि बाह्य-दृष्टि से जीव और पुद्गल की अनादि बन्ध पर्याय को लक्ष्य में ले कर एकत्व का अनुभव करने पर ही वे भूतार्थ प्रतीत होते हैं, और अन्तर-दृष्टि से ज्ञायक भाव जीव है, तथा उस के विकार का हेतु अजीव है। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार ग्रन्थ में निश्चय-नय और व्यवहार-नय का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है।

निश्चय और व्यवहार :

इतना विचार करने पर प्रश्न उपस्थित होता है, कि निश्चय और व्यवहार की परिभाषा क्या है? निश्चय और व्यवहार का वर्णन इतना विस्तृत और व्यापक है, कि जैन-दर्शन की मूल आत्मा को समझने के लिए उसका जानना परम आवश्यक है। यहाँ पर सामान्य रूप से निश्चय और और व्यवहार की परिभाषा देते हुए इतना कहना आवश्यक होगा—"स्वाश्रितो निश्चयः पराश्रितो व्यवहारः।" इन दो वाक्यों में निश्चय और व्यवहार की संपूर्ण व्याख्या और परिभाषा आ जाती है। निश्चय और व्यवहार को समझने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने परस्पर मिश्रित क्षीर और नीर का दृष्टान्त दे कर यह बताया है, कि जिस प्रकार मिले हुए क्षीर और नीर में संयोग सम्बन्ध होता है, परन्तु अग्नि और उष्ण गुण के समान तादात्म्य सम्बन्ध नहीं होता, इसी प्रकार वर्ण से ले कर इन गुणस्थान पर्यंत सब भावों का जीव के साथ संयोग-सम्बन्ध जानना चाहिए, तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं। क्यों कि वर्ण से ले कर गुणस्थान पर्यन्त भावों के साथ जीव का सम्बन्ध दूध-पानी के संयोग सम्बन्ध की तरह जानना चाहिए। इसलिए वे भाव जीव के नहीं है,"

---

१. समयसार, १२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्यों कि वह उपयोग गुण के द्वारा उनसे भिन्न है।[1] जिस प्रकार जीव के साथ वर्णादि का संयोग सम्बन्ध है, इसी प्रकार जीव में उत्पन्न हुए रागादि भावों का संयोग सम्बध कैसे हो सकता है? इस प्रश्न को उटा कर आचार्य जयसेन ने इस का समाधान किया है–

वर्ण आदि जीव से अलग हैं, इसलिए उनके साथ जीव का व्यवहार नय से क्षीर और नीर के समान संश्लेष सम्बन्ध रह सकता है, परन्तु आन्तारिक रागादि का जीव के साथ संयोग सम्बन्ध नही बन सकता। इन दोनों में तो अशुद्ध निश्चय रूप सम्बन्ध होना चाहिए।

यह नहीं है। क्यों कि द्रव्य कर्म बन्ध की अपेक्षा जो यह असद् भूत व्यवहार है, उस की अपेक्षा इन में संश्लेष सम्बन्ध माना गया है। यद्यपि रागादि भावों का जीव में तारतम्य दिखलाने के लिए इन्हें अशुद्ध निश्चय रूप कहा जाता है, परन्तु वास्तव में शुद्ध-निश्चय की अपेक्षा अशुद्ध-निश्चय भी व्यवहार ही है। यह बात यहाँ पर स्पष्ट हो जाती है। आचार्य ने यहाँ पर अशुद्ध-निश्चय-नय को व्यवहार ही माना है। निश्चय और व्यवहार के सम्बन्ध में जैन-दर्शन में व्यापक रूप से विचार किया गया है। निश्चय और व्यवहार एकान्त रूप से परस्पर निरपेक्ष नहीं, बल्कि सापेक्ष हैं।

एक दृष्टान्त :

एक वन था। जिसमें एक शेर और शेरनी रहते थे। एक बार शेरनी ने एक बच्चे को जन्म दिया, और वह तुरन्त मर गई। उसी समय वहाँ से गडरिया अपनी भेडों को चराने के लिए जंगल में जा रहा था। उसने उस शेर के बच्चे को अपने साथ ले लिया। वह सिंह-शिशु भेड और

---

१. समयसार, ५७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बकरियों के टोले में रहते-रहते अपने आपको भेड और बकरी ही समझने लगा। स्वयं सिंह होते हुए भी वह अपने स्वरूप को भूल कर पर-रूप को ही अपना मान बैठा। परन्तु एक दिन उस जंगल में दूसरा सिंह आया. उसकी गर्जना को सुन कर सब भेड-बकरियाँ इधर-उधर भागने लगीं, यह सिंह-शिशु भी भागा। यह देख कर सिंह ने कहा—अरे! तू क्यों भागता है, तू तो सिंह है। परन्तु सिंह की बात पर सिंह-शिशु को विश्वास नहीं आया। क्यों कि वह अपने स्वरूप को सर्वथा भूल चुका था। और पर—रूप को ही उसने अपना समझ लिया था। परन्तु जब सिंह ने नदी के किनारे पहुँच कर अपने रूप से उसका रूप मिलाने की बात कही तब उसने देखा, कि वास्तव में जो-कुछ मेरा रूप है, वही इस का भी रूप है। उसे दिन से उसने अपने स्वरूप को पहचाना और वह वास्तविक रूप में सिंह बन गया।

वस्तु के वास्तविक स्वरूप का विचार करना यह निश्चय-नय है। क्यों कि निश्चय-दृष्टि अथवा निश्चय-नय वस्तु के शुद्ध स्वरूप को ही देखता है, जब कि व्यवहार-नय वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न जान कर अवास्तविक रूप को ही वास्तविक कहता है। निश्चय-नय और व्यवहार-नय को समझने के लिए एक दृष्टान्त यह भी दिया जाता है, कि जैसे किसी से कहना, कि घी का घडा लाओ वास्तव में घडा घी का नही होता, वह तो मिट्टी का ही होता है, परन्तु मिट्टी के घडे को घी का घडा व्यवहार अथवा उपचार से कहा जाता है। यह उपचार कथन ही वास्तव में व्यवहार-नय कहा जाता है।

नयों के भेद :

मूल में नयों के दो भेद हैं—निश्चय और व्यवहार। निश्चय के फिर दो भेद हैं—शुद्ध-निश्चय-नय और अशुद्ध-निश्चय-नय। व्यवहार-नय के

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दो भेद हैं—उपचरित-व्यवहार-नय और अनुपचरित-व्यवहार-नय। शुद्ध-निश्चय-नय तो आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु को स्वीकार नहीं करता। निश्चय नय का कथन है, कि आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता है, वह तो एक मात्र ज्ञाता एवं दृष्टा ही है। निश्चय-नय से आत्मा स्वयं स्वयं के द्वारा स्वयं के लिए स्वयं से स्वयं में शुद्ध है, बुद्ध है, और मुक्त है। निश्चय-नय वाहर के किसी भी निमित्त को ग्रहण नहीं करता। निश्चय-नय से यह कहा जाता है, कि मैं स्वयं ज्ञान हूँ, मैं स्वयं दर्शन हूँ, मैं स्वयं चारित्र हूँ और मैं स्वयं ही अनन्त-शक्ति हूँ। परन्तु अशुद्ध-निश्चय-नय से कहा जाएगा, कि आत्मा ज्ञानवान है, आत्मा दर्शनवान है, आत्मा चारित्रवान है, और आत्मा अनन्त-शक्तिवाला है।

उपचरित सद्भूत व्यवहार और अनुपचरित सद्भूत व्यवहार को समझने से पहले उपचरित और अनुपचरित को समझना होगा। जिसमें उपचार किया जाता है, वह उपचरित, और जिसमें उपचार नहीं किया जाता, वह अनुपचरित है। जैसे यह कहना, कि यह धन मेरा है, यह बंगला मेरा है। यहाँ पर धन और बंगले में अपने मन का उपचार किया जाता है। अनुपचरित सद्भूत व्यवहार-नय का उदाहरण यह है, कि यह शरीर मेरा है, शरीर का रंग-रूप मेरा है। वर्तमान में कर्म के उदय भाव के कारण पुद्गल के शरीर में अपनत्व की कल्पना की गई है, फिर भी जब तक आत्मा का पुद्गल एवं कर्म के साथ सम्बन्ध है, यह शरीर मेरा ही है, किसी दूसरे का नहीं। इसी आधार पर इसको अनुपचरित सद्भूत व्यवहार-नय कहा जाता है। इस प्रकार निश्चय और व्यवहार की जो व्याख्या की गई है, उस का संक्षेप में यहाँ पर वर्णन किया गया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नय का स्वरूप

१५

नय जैन-दर्शन का एक विशेष सिद्धान्त है। अनेकान्तवाद का मूल-आधार नयवाद ही है। नय का स्वरूप समझने के लिए यह आवश्यक है, कि नय के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न प्रकार से अपने विचारों को अभिव्यक्त किया है। परन्तु नय की सामान्य परिभाषा यह है—ज्ञाता का वह अभिप्राय विशेष नय है, जो प्रमाण के द्वारा ज्ञात वस्तु के एक देश का स्पर्श करता है।[1] वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। प्रमाण-ज्ञान उसे समग्र भाव से ग्रहण करता है, उस में अंश विभाजन करने की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे कि 'घटोयम' यह एक घडा है। इस प्रमाण-ज्ञान में घट के समग्र धर्मों का समावेश हो जाता है। परन्तु जब यह कहा जाता है, कि 'रूपवान घट' अथवा "रसवान घट" तब इसका अभिप्राय यह होता है, कि अनन्त धर्मात्मक घट में से केवल रूप

१. नयो ज्ञातुरभिप्रायः, लघी, ५५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

या रस धर्म का ज्ञान ही अभीष्ट है। इसलिए यह ज्ञान अंश-ज्ञान होने से नय कहा जाता है। नय और प्रमाण में इतना ही अन्तर है, कि नय वस्तु के एक अंश का ज्ञान करता है, जब कि प्रमाण वस्तु का संपूर्ण रूप से ज्ञान करता है। नयों का विभाजन जैन ग्रन्थों में अनेक दृष्टि से किया गया है। नय के दो भेद भी हैं, पाँच भेद भी हैं और सात भेद भी हैं। आगमों में नय के सात भेद हैं। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ सूत्र में और उसके भाष्य में नयों के पाँच भेद स्वीकार किए हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने अपने सन्मति-तर्क में नैगम नय को छोडकर नयों के शेष छह भेद स्वीकार किए हैं। किन्तु यहाँ पर इन भेदों पर विचार न करके अध्यात्म-शास्त्र की दृष्टि से नयों पर विचार करना ही अभीष्ट है। अध्यात्म-शास्त्र में मूल नय दो स्वीकार किए गए हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। दूसरी दृष्टि से भी नयों के दो भेद स्वीकार किए गए हैं—निश्चय-नय और व्यवहार-नय। वस्तु के मूल स्वरूप को ग्रहण करने वाला विचार निश्चय-नय है, और उपचार कथन को अध्यात्म-शास्त्र में व्यवहार-नय कहा गया है।

निश्चय और व्यवहार

अध्यात्म-शास्त्र में नयों के निश्चय और व्यवहार ये दो भेद प्रसिद्ध हैं। समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार-नय को अभूतार्थ कहा है।[1] जिस प्रकार अद्वैत-वेदान्त में दो दृष्टि स्वीकार की है—पारमार्थिक-दृष्टि और व्यावहारिक-दृष्टि। बौद्ध-दर्शन के विज्ञानवाद और शून्यवाद में दो दृष्टि स्वीकार की है—परमार्थ और सावृत। वेदान्त, विज्ञानवाद और शून्यवाद में दृष्टियों का जो वर्गी-

---

१ समयसार, ११.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
करण किया गया है, जैन-परंपरा में उसी वर्गीकरण को निश्चय-नय और व्यवहार-नय कहा गया है। अन्तर केवल इतना है, कि जैन-अध्यात्मवाद का निश्चय-नय वास्तविक स्थिति को उपादान के आधार से पकड़ता है, वह अन्य पदार्थों के अस्तित्व का निषेध नहीं करता, जब कि वेदान्त अथवा विज्ञानवाद का परमार्थ अन्य पदार्थों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। बुद्ध की धर्म देशना को बौद्ध-साहित्य में परमार्थ-सत्य और लोक-संवृति-सत्य इन दो रूपों से भी घटाने का प्रयत्न हुआ है।[1] इस प्रकार अद्वैत-वेदान्त में और बौद्धों के विज्ञानवाद एवं शून्य-वाद में जो परमार्थ सत्य एवं पारमार्थिक दृष्टि है, उसे जैन-दर्शन में भूतार्थ नय अथवा निश्चय-नय कहा गया है।

निश्चय-नय पर-निरपेक्ष स्वभाव का वर्णन करता है। जिन पर्यायों में पर-निमित्त पड जाता है, उन्हें वह शुद्ध नहीं कहता। पर-जन्य पर्यायों को वह पर मानता है। जैसे जीव के राग आदि भावों में यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही राग रूप से परिणति करता है, परन्तु यह भाव कर्म निमित्तक है। अतः इन्हें वह अपने आत्मा के निज रूप नहीं मानता। अन्य आत्माओं एवं जगत के समस्त अन्य अजीवों को तो वह अपना मान ही नहीं सकता। किन्तु जिन आत्म विकास के स्थानों में पर का थोडा भी निमित्त होता है, उन्हें वह पर मानता है, स्व नहीं। इसी आधार पर समयसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने जब आत्मा के वर्ण, रस, गंध, एवं स्पर्श आदि प्रसिद्ध पर रूप का निषेध किया, तो उसीके साथ गुणस्थान आदि पर निमित्तक स्व-धर्मों का भी निषेध कर दिया।[2] क्यों कि निश्चय-नय अपने मूल लक्ष्य अथवा आदर्श का सर्वथा विशुद्ध वर्णन करना चाहता है, जिससे साधक को किसी प्रकार का भ्रम न हो, और

---

१. माध्यमिक कारिका ८. २. समयसार, ५५.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वह अपने लक्ष्य से भटक न जाए। यही कारण है, कि समयसार में आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का वर्णन करते हुए आत्मा को शुद्ध ज्ञायक अथवा ज्ञाता कहा गया है। बन्ध अथवा राग आदि को समयसार में पर की कोटि में डाल दिया गया है। व्यवहार नय पर सापेक्ष पर्यायों का कथन करता है, इस लिए उस के कथन को उपचार कथन कहा गया है। और आचार्य ने उसे अभूतार्थ कहा है।

अध्यात्म-शास्त्र का उद्देश्य है, कि वह साधक को यह स्पष्ट बता दे, कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है? तुम्हारा परम-ध्येय और परम-लक्ष्य क्या हो सकता है? आचार्य कुन्दकुन्द स्पष्ट भाषा में और सचोट शब्दों में कहते हैं, कि साधक के जीवन के चरम-लक्ष्य का निर्णय जब तक नहीं होगा, और जब तक अंतिम लक्ष्य पर दृष्टि नहीं होगी, तब तक उसे मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। आचार्य कुन्दकुन्द का विश्वास है, कि जब तक साधक को उस के लक्ष्य का स्पष्ट बोध नहीं करा दिया जाएगा, तब तक वह इधर-उधर भटकता रहेगा। साधक को अपने जीवन में स्वावलम्बी बनना है, परावलम्बी नहीं। साधक को पर-निमित्तक विभूति या विकारों से उसी प्रकार अलिप्त रहना है, जिस प्रकार वह स्त्री या पुत्र आदि पर-चेतन तथा धन एवं धान्य आदि पर-अचेतन पदार्थों से नाता तोड कर स्वावलम्बी जीवन की ओर अग्रसर होता है। आत्माभिमुखी साधक लोक-व्यवहार को हेय मानता है, जिसमें अंशतः भी परावलम्बन हो उसे अध्यात्म-साधक कैसे स्वीकार कर सकता है? मैं समझता हूँ, कि यहाँ पर आचार्य कुन्दकुन्द बहुत ही स्पष्ट हो गए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द अपने समयसार में लिखते हैं, कि जीव के परिणामों का निमित्त पा कर पुद्गल-द्रव्य कर्म पर्यायों को प्राप्त होते हैं, और उन कर्मों के निमित्त से जीव में राग आदि परिणाम होते हैं। यद्यपि दोनों अपने-अपने परिणामों में उपादान होते हैं, तथापि यह परिणमन अन्योन्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्तक है।[1] इस तथ्य का वे अपलाप न करके उस का विवेचन करते हैं, और जगत के पदार्थों में जीव की जो कर्तृत्व बुद्धि है, उसको हटाने का प्रयत्न करते हैं। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए एक उदाहरण का आधार ले कर वे कहते हैं—बताओ, 'कुंभार ने घडा बनाया' इसमें कुंभार ने आखिर क्या किया? यह सही है, कि कुंभार को घडा बनाने की इच्छा हुई। उसने अपना उपयोग और योग लगाया। लेकिन घट-पर्याय तो आखिर मिट्टी में ही उत्पन्न हुई।[2] कुंभार की इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ही घट के अन्तिम उत्पादक होते तो उनसे रेत या पत्थर में भी घडा उत्पन्न हो जाना चाहिए था। आखिर वह मिट्टी की उपादान योग्यता पर ही निर्भर करता है। वही योग्यता घटाकार बन जाती है। यह सत्य है, कि कुंभार के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न के निमित्त बने बिना मिट्टी की योग्यता विकसित नहीं हो सकती थी। पर इतने निमित्त मात्र से हम उपादान की निज़ योग्यता की विभूति की उपेक्षा नहीं कर सकते। अतः निमित्त में जो कर्तृत्व बुद्धि रहती है, उसको हटाना आवश्यक है।

आत्मा का शुद्ध-स्वरूप :

समयसार में मुख्य रूप से आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कथन अथवा वर्णन किया गया है। जहाँ आत्मा के शुद्ध स्वरूप का कथन किया जाता है, वहाँ व्यवहार-नय का नहीं, निश्चय-नय का ही आधार मुख्य रूप से लिया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में बडी सुन्दरता से कहते हैं, कि काम, भोग और बन्ध की कथा सभी को श्रुत, परिचित और अनुभूत है, परन्तु विभक्त (शुद्ध-आत्मा के) एकत्व की उपलब्धि सुलभ नहीं है।[3] कारण यह है, कि शुद्ध-आत्मा का स्वरूप संसारी जीवों

---

१. समयसार, ८०-८१ २. समयसार, १००.

३. समयसार, ४,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
को केवल श्रुत पूर्व है, अर्थात् उसके सुनने में भी कदाचित आया हो, पर न तो उसने कभी इस का परिचय पाया है और न कभी इसका अनुभव ही किया है। आचार्य ने अपने आत्म-विश्वास से अपने पाठकों को भरोसा दिलाते हुए कहा है, कि मैं अपने समस्त सामर्थ्य और बुद्धि का विभव लगा कर आत्मा के उस शुद्ध स्वरूप को दिखाता हूँ। फिर भी यदि मैं छद्मस्थ होने के नाते चूक जाऊं, तो छल नहीं मानना।[1] आचार्य के इस कथन का अभिप्राय यही है, कि अपने इस ग्रन्थ में मैं आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का ही मुख्य रूप से वर्णन करना चाहता हूँ। आत्मा का पर-निमित्तक वर्णन तो अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध हो सकता है। आत्मा के शुद्ध-स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—आत्मा न तो प्रमत्त है, और न अप्रमत्त, न तो अशुद्ध है, और न शुद्ध, वह तो केवल ज्ञायक है।[2] आत्मा के सम्बन्ध में आचार्य ने कहा है, कि आत्मा अपने अज्ञान के कारण उन-उन पर्यायों को धारण अवश्य करता है, परन्तु ये सब शुद्ध और मूल-भूत द्रव्य नहीं है। आत्मा के इस त्रिकाल व्यापी स्वरूप को आचार्य ने इसी लिए अबद्ध, अस्पृष्ट, अननवय, नियत, अविशेष, असंयुक्त विशेषणों से अभिव्यक्त किया है।[3] समयसार का शुद्ध-नय इसी मूल तत्त्व पर दृष्टि रखता है। वह वस्तु के परिणमन का निषेध नहीं करता, किन्तु वह कहना चाहता है, कि अनादिकालीन अशुद्ध कीट-कालिमा आदि से विकृत बने हुए इस सोने में उस सौ-टंची सोने की शक्ति रूप से विद्यमान आभा पर एकबार दृष्टि तो डालो। इस शुद्ध स्वरूप पर लक्ष्य दिए बिना कभी उसकी प्राप्ति की दिशा में प्रयत्न नहीं किया जा सकता। साधक का लक्ष्य है, कि वह अपने शुद्ध-स्वरूप की ओर लक्ष्य करके निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहे। आचार्य कुन्दकुन्द का स्पष्ट कथन है, कि

---

१. समयसार, ५. २. समयसार, ६. ३. समयसार, १४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा का ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप से विभाजन या उसका विभक्त रूप से कथन करना भी एक प्रकार का व्यवहार है। वह केवल समझने एवं समझाने के लिए है। आप ज्ञान को, दर्शन को या चारित्र को भी शुद्ध आत्मा का असाधारण लक्षण नहीं कह सकते। क्यों कि ये सब उस आत्मा के अंश हैं, और उस अखण्ड तत्त्व को खण्ड-खण्ड करने वाले विशेष हैं। आचार्य कुन्दकुन्द विश्वास के साथ कहते हैं, कि जिसने इसको जान लिया उसने समग्र जिन-शासन को जान लिया।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में मुख्य रूप से निश्चय-दृष्टि का आधार ले कर परम विशुद्ध आत्म-तत्त्व का वर्णन किया है। इस वर्णन करने का एक मात्र उद्देश्य यही है, कि साधक के सामने उस के चरम-लक्ष्य का वर्णन स्पष्ट शब्दों में कर दिया जाए। क्यों कि जब तक साधक को उस के लक्ष्य का परिज्ञान नहीं होगा, तब तक लक्ष्य प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील कैसे होगा? निश्चय-नय का कथन वाह्य निमित्त को अथवा पर-सापेक्षता को स्वीकार नहीं करता, यह सत्य है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है, कि आचार्य कुन्दकुन्द व्यवहार-नय का निषेध करते हों या उसे स्वीकार नहीं करते हों। उनके कहने का तो एक मात्र उद्देश्य यही है, कि अनादि काल से आज तक जीव का लक्ष्य व्यवहार रहा है, अथवा निमित्त रहा है। परन्तु अव उसे अपना लक्ष्य निश्चय और उपादान को बनाना चाहिए। आत्माभिलक्षी साधक तभी अपने प्रयत्न में सफल हो सकता है, जब कि वह निश्चय-नय और उपादान पर अपनी दृष्टि को स्थिर कर सके। निमित्त में उलझने वाला और व्यवहार तक ही सीमित रह जान वाला साधक किसी भी प्रकार से अपने विशुद्ध स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता। यही दृष्टिकोण अद्वैत-वेदान्त और बौद्धों के विज्ञानवाद का भी रहा है।

१. समयसार, ७.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्त और उपादान

१६

न्याय-शास्त्र में अथवा दर्शन-शास्त्र में कार्य-कारण भाव सभी को स्वीकार होता है। कार्य-कारण की व्याख्या भले ही भिन्न-भिन्न हो, परन्तु कार्य-कारण सभी को स्वीकार करना पडता है। प्रत्येक कार्य के उत्पादन में उसका कारण अवश्य ही होना चाहिए, यह एक अटल नियम है। कारण की सामान्य परिभाषा यह है, कि जो कार्य की उत्पत्ति से पूर्व क्षण अवश्य ही रहता हो, वह कारण है। कार्य की उत्पत्ति में दो कारण होते हैं—उपादान और निमित्त। उपादान कारण मूल कारण है, और निमित्त सहयोगी कारण है। उपादान कारण वह है—जो स्वयं ही कार्य रूप में परिणत हो जाता है। और निमित्त कारण वह है—जो कार्य की उत्पात्ति में स्वयं तो कार्य रूप में परिणत नहीं होता, परन्तु उस में सहयोग एवं सहकार करता है। इस विषय को स्पष्ट समझने के लिए घट का उदाहरण दिया जा सकता है। घट मिट्टी की पर्याय है। क्यों कि घट में मिट्टी का अन्वय देखा जाता है। इसलिए घट रूप कार्य का उपादान कारण मिट्टी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
कही जाती है। परन्तु यदि केवल मिट्टी से ही घट बनने लगे तो मिट्टी के बाद ही घट की उत्पत्ति होनी चाहिए। मिट्टी और घट के बीच में, जो पिण्ड, स्थास, कोष, कुशूल आदि रूप विविध सूक्ष्म एवं स्थूल पर्यायें होती हैं, वे नहीं होनी चाहिए। यह माना, कि वे सब पर्याय मिट्टी की ही हैं। परन्तु जो मिट्टी खान से लाई जाती है, वह पूर्वोक्त अन्य पर्यायों को प्राप्त हुए बिना घट-पर्याय रूप से परिणत नहीं हो सकती। इससे मालूम पडता है, कि केवल मिट्टी को घट का उपादान कारण कहना—द्रव्यार्थिक नय का कथन है। वस्तुतः घट की उत्पत्ति अमुक पर्याय विशिष्ट मिट्टी से होती है, जिस अवस्था में मिट्टी खान से आती है, वह अवस्था विशिष्ट मिट्टी नहीं। इस का अर्थ यह है, कि घट का उपादान कारण विवक्षित अवस्था विशिष्ट मिट्टी ही होती है, अन्य अवस्था विशिष्ट मिट्टी नहीं। यही कारण है, कि अष्ट-सहस्री ग्रन्थ के दशवें श्लोक की टीका में द्रव्यार्थिक-नय से मिट्टी को घट का उपादान कहा है, और ऋजुसूत्र-नय से पूर्व पर्याय को घट का उपादान कहा है।

इस विषय को स्पष्ट करने के लिए दूसरा उदाहरण जीव का दिया जा सकता है। मुक्त अवस्था जीव की पर्याय है। क्यों कि मुक्त अवस्था में जीव का अन्वय देखा जाता है, इसलिए द्रव्यार्थिक नय से मुक्त अवस्था का उपादान कारण जीव कहा जाता है। परन्तु यदि केवल जीव से मुक्त अवस्था उत्पन्न होने लगी, तो निगोद के जीव को भी उस पर्याय के बाद मुक्त-अवस्था उत्पन्न हो जानी चाहिए। निगोद के जीव और मुक्त-अवस्था के बीच में जो दूसरी अनेक पर्यायें दृष्टि गोचर होती हैं, वे नहीं होनी चाहिए। यह तर्क स्वीकार किया जा सकता है, कि इन दोनों अवस्थाओं के बीच अल्प या अधिक जो दूसरी पर्यायें होती हैं, वे सब जीव मय ही होती हैं। परन्तु जो जीव निगोद से निकलता है, वह पूर्वोक्त अन्य पर्यायों को प्राप्त हुए बिना मुक्त अवस्था को प्राप्त नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर सकता। इससे मालूम पडता है, कि केवल जीव को मुक्त-अवस्था का उपादान कारण कहना, द्रव्यार्थिक-नय का कथन है। वास्तव में तो मुक्त-अवस्था की उत्पत्ति अन्तिम क्षणवर्ती अयोगी केवली अवस्था विशिष्ट जीव से ही होती है। इसके पूर्व क्रम से सयोगी-केवली, क्षीण-कषाय, सूक्ष्म-सम्पराय, अनिवृत्ति-करण, अपूर्व-करण और अप्रमत्त-संयत आदि अवस्थाएँ क्रम से एवं नियम से होती हैं। जिस प्रकार सव पुद्गल घट नहीं वनते, उसी प्रकार यह नियम भी है, कि सव जीव इन अवस्थाओं को प्राप्त नहीं होते। जो भव्य हैं, वे ही अपने-अपने उपादान के अनुसार यथासमय इन अवस्थाओं को प्राप्त हो कर मुक्त होते हैं। इतना स्पष्ट है, कि मुक्त होने के अनन्तर पूर्व अयोगी अवस्था नियम से होती है।

कार्य-कारण-भाव :

उपादान और निमित्त के सम्वन्ध में दो दृष्टान्त देने के वाद यह स्पष्ट हो जाता हैं, कि उपादान क्या है, और निमित्त क्या है? प्रत्येक पदार्थ में अपनी जो निज शक्ति है, निज योग्यता है, निज क्षमता है, वही उपादान है। निज शक्ति और निज योग्यता के प्रकट होने में जो सहयोग और सहकार करता है, वह निमित्त है। जिस प्रकार उपादान के अभाव में कार्य की उत्पत्ति असंभव है, उसी प्रकार निमित्त के अभाव में भी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में उपादान और निमित्त दोनों को होना ही चाहिए। फिर भी यह सत्य है, कि निमित्त की अपेक्षा उपादान की मुख्यता है। परन्तु इस का अर्थ निमित्त का निषेध नहीं है।

कारण की व्याख्या करते हुए अभी मैंने कहा था, कि नियत पूर्व समय में रहना कारण का लक्षण है, और नियत उत्तर समय में रहना कार्य का लक्षण है। यद्यपि जो नियत पूर्व समय में स्थित है–उसे कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
और जो नियत उत्तर समय में स्थित है–उसे कार्य कहा गया है, तथापि इससे उपादान कारण एवं उसके कार्य का सम्यक्-बोध नहीं होता। क्यों कि नियत पूर्व समय में द्रव्य और पर्याय दोनों अवस्थित रहते हैं। इसलिए इतने लक्षण से कि कौन किसका उपादान कारण है, और किस उपादान का कौन-सा कार्य है, यह बोध नहीं होता। फिर भी उक्त कथन से उपादान कारण और कार्य में एक समय पूर्व और बाद में होने का नियम है, यह बोध तो हो ही जाता है। जो द्रव्य तीनों कालों में अपने रूप को छाड्ता हुआ, और नहीं छोडता हुआ पूर्व रूप से और अपूर्व रूप से स्थित रहता है, वह उपादान कारण है। यहाँ पर द्रव्य को उपादान कारण कहा गया है। यह बात ध्यान में रखने जैसी है, कि द्रव्य का न तो केवल सामान्य अंश उपादान होता है, और न केवल विशेष अंश उपादान होता है। द्रव्य के केवल सामान्य-अंश को और केवल विशेष-अंश को उपादान मानने में जो आपत्ति आती है, उस का उल्लेख आचार्य विद्यानन्दी ने इस प्रकार किया है–जो अपने स्वरूप को छोडता ही है, वह (पर्याय) और जो अपने स्वरूप को सर्वथा नहीं छोडता वह (द्रव्य) अर्थ (कार्य) का उपादान नहीं होता। जैसे एकान्त क्षणिक और एकान्त शास्वत-उक्त दोनों पक्षों में कार्य-कारण भाव की सिद्धि किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती है।

यद्यपि सर्वथा क्षणिक और सर्वथा शास्वत जगत में कोई पदार्थ नहीं है। परन्तु जो लोग पदार्थ को सर्वथा क्षणिक मानते हैं, उनके यहाँ जैसे सर्वथा क्षणिक पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता। और जो लोग पदार्थ को सर्वथा शास्वत मानते हैं, उनके यहाँ जैसे सर्वथा शास्वत पदार्थ कार्य का उपादान नहीं हो सकता। उसी प्रकार द्रव्य का केवल सामान्य अंश कार्य का उपादान नहीं होता, और न केवल विशेष अंश कार्य का उपादान होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता हैं, कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
जो अनन्तर पूर्व-पर्याय विशिष्ट द्रव्य है, उसकी उपादान संज्ञा है, और जो अनन्तर उत्तर-पर्याय विशिष्ट द्रव्य है, उसकी कार्य संज्ञा है। जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार उपादान-उपादेय का यह व्यवहार इसी प्रकार से चला आ रहा है, और अनन्त काल तक चलता रहेगा।

निमित्त-नैमित्तिक-व्यवहार :

यहाँ पर इतना विशेष समझना चाहिए, कि निमित्त-नैमित्तिक-व्यवहार सर्वत्र एक ओर से नहीं होता। किन्तु कहीं-कहीं दोनों ओर से भी होता है। उदाहरण के लिए—जब घट कार्य की मुख्यता होती है, तब विवक्षित योग और उपयोग से युक्त कुंभकार उस घट रूप कार्य का निमित्त कहा जाता है, और घट कार्य नैमित्तिक कहा जाता है। किन्तु जब कुंभकार की विवक्षित योग और उपयोग रूप क्रिया (व्यापार) किस बाह्य निमित्त से हुई इसका विचार किया जाता है, तो जो मिट्टी घट-पर्याय रूप से परिणत हो रही है, वह उसका निमित्त कहा जाएगा, और विवक्षित योग एवं उपयोग विशिष्ट कुंभकार उसका नैमित्तिक कहा जाएगा। जैन-दर्शन के अनुसार यह निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार की व्यवस्था है। इसके रहते हुए भी कुछ लोग निमित्त के अनुसार कार्य की उत्पत्ति मानने वाले महानुभाव उपादान कारण के वास्तविक रहस्य को न स्वीकार करके इस प्रकार की शंका करते हैं, कि खान से लाई गई मिट्टी से यदि घट की उत्पत्ति होगी तो इसी क्रम से होगी, इसमें संदेह नहीं। परन्तु खान से लाई गई अमुक मिट्टी घट की उपादान होगी, और अमुक मिट्टी सकोरा की उपादान होगी, यह मिट्टी पर निर्भर न हो कर कुंभकार पर निर्भर है। कुंभकार जिस मिट्टी से घट बनाना चाहता है, उससे घट बनता है, और जिससे सकोरा बनाना चाहता है, उससे सकोरा बनता है। इसलिए यह मानना पडता है, कि कार्य की उत्पत्ति अपने उपादान से हो कर भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निमित्त के अनुसार ही होती है। इतना ही नहीं, यदि कोई विशिष्ट घट बनवाना पडता है, तो उस के लिए विशिष्ट कुंभकार की आवश्यकता पडती है। यदि ऐसा हो, कि केवल अमुक प्रकार की मिट्टी से ही विशिष्ट घट बन जाए, उस में कुंभकार की विशेषता को ध्यान में रखने की आवश्यकता न पडे, तो फिर मात्र योग्य मिट्टी का ही संग्रह किया जाना चाहिए। विशिष्ट कारीगरी की ओर ध्यान देने की क्या आवश्यकता है? क्यों कि लोक में योग्य उपादान सामग्री के समान योग्य कारीगर का भी विचार किया जाता है। और इस प्रकार का योग मिल जाने पर कार्य भी विशिष्ट होता है। इस से मालूम पडता है, कि कार्य की उत्पत्ति अपने उपादान से हो कर भी वह निमित्त के अनुसार ही होती है। तात्पर्य यह है, कि किस समय किस द्रव्य की क्या पर्याय हो यह उपादान पर निर्भर न होकर निमित्त के आधीन है। वास्तव में निमित्त की सार्थकता इसी में है, अन्यथा कार्य-मात्र में निमित्त को स्वीकार करना कोई अर्थ नहीं रखता?

परन्तु जिन लोगों की यह विचार-धारा है, वह तर्क-संगत, और शास्त्र-संगत नहीं है। शास्त्रों में कार्य-कारण भाव का जो वर्णन किया गया है, उसमें निमित्त का निषेध नहीं है। यहाँ पर बतलाना इतना ही अभीष्ट है, कि मुख्यता निमित्त की न होकर उपादान की ही है। क्यों कि उपादान कारण ही कार्य रूप में परिणत होता है। समयसार शास्त्र अबद्ध, अस्पृष्ट और असंयुक्त आत्मा का स्वरूप बोध कराने की मुख्यता से लिखा गया है, इसलिए उस में निश्चय-नय का कथन मुख्य है, फिर भी उसमें कार्य की उत्पत्ति में निमित्त की स्वीकृति दी गई है। उसमें निमित्त का कहीं पर भी निषेध नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है, कि कहीं पर निमित्त को गौण कर दिया गया है, और कहीं पर उपादान को। पर इतने मात्र से न तो निमित्त का ही निषेध जानना चाहिए, और न उपादान का ही। यह तो कथन करने की पद्धति है। जहाँ पर अभिप्राय विशेष से एक का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतिपादन किया गया हो, वहाँ पर दूसरे का कथन समझ ही लेना चाहिए। इतना अवश्य है, कि उपादान कारण स्वयं कार्य रूप में परिणत होता है, और सहकारी सामग्री उसके बलाधान में निमित्त होती है।

निमित्त की स्वीकृति :

कार्य-कारण भाव मीमांसा में उपादान और निमित्त की जो मीमांसा की गई है, उसे देखते हुए प्रतीत होता है, कि दोनों में से किसी एक की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। एक-द्रव्य दूसरे-द्रव्य के कार्य में निमित्त भी होता है, इस तथ्य को आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—जीव के राग-द्वेष आदि परिणामों को निमित्त करके पुद्गल वर्गणा कर्म रूप से परिणमन करती है, और पुद्गल कर्म को निमित्त कर के जीव भी उसी प्रकार राग-द्वेष आदि से परिणमन करता है।[1] जहाँ तक आगम का सम्बन्ध है, उसमें द्रव्य के उक्त स्वभाव को स्वीकार करने के बाद भी प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारणों का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। स्व-रचित तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वाति ने एक द्रव्य अपने से भिन्न दूसरे द्रव्य का क्या उपकार करता है ? इसका निर्देश करते हुए कहा है, कि जीवों और पुद्गलों की गति में निमित्त होना धर्म-द्रव्य का उपकार है। जीवों और पुद्गलों की स्थिति में निमित्त होना अधर्म द्रव्य का उपकार है। सब द्रव्यों को अवकाश देने में निमित्त होना आकाश-द्रव्य का उपकार है। शरीर, वचन, मन और श्वासोच्छ्वास की रचना करके उसके द्वारा संसारी जीवों के लिए निमित्त होना पुद्गलों का उपकार है। सुख-दुःख, जीवन और मरण में जीवों के लिए निमित्त होना यह भी पुद्गलों का उपकार है। जीवों के सुख-दुःख, जीवन और मरण

---

१. समयसार, ८०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
क साथ अन्य कार्यों में निमित्त होना जीवों का उपकार है। सब द्रव्यों का यथासंभव वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व में निमित्त होना काल-द्रव्य का उपकार है।[1]

लोक में भी घट-पट आदि कार्यों की उत्पत्ति-निमित्तों के सद्भाव में देखी जा सकती है। जिससे यह सर्वत्र व्याप्ति बनाई जा सकती है, कि लोक में सूक्ष्म और स्थूल जितने भी कार्य होते हैं, उनकी उत्पत्ति में निमित्त होते हैं। इस प्रकार जैन-दर्शन में तथा अन्य-दर्शनों में कार्य की उत्पत्ति में निमित्त और उपादान दोनों कारण होते हैं। दोनों में से किसी एक का भी अभाव होने से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, यह वस्तुस्थिति है। इसके रहते हुए भी इस प्रश्न का निमित्त की मुख्यता से एवं व्यवहार-नय से तत्त्वार्थ सूत्र में यह समाधान किया गया है, लोक के आगे धर्म-द्रव्य नहीं है, इसलिए मुक्त जीव का उस से ऊपर गमन नहीं होता। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने नियमसार में यह समाधान किया है—"जहाँ तक धर्मास्तिकाय है, वहाँ तक जीवों और पुद्गलों का गमन जानो। धर्मास्तिकाय के अभाव में उस से आगे वे गमन नहीं करते"।[2] और नियमसार क उक्त उल्लेख से यही सिद्ध होता है, कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में निमित्त अवश्य होता है। इसलिए यह समझने का कोई कारण नहीं है, कि जैन-शास्त्रों में निमित्त का निषेध किया गया है। निश्चय-नय और उपादान पर अधिक बल देने का एकमात्र उद्देश्य यही है, कि जीव अपने वास्तविक स्वरूप को समझने का प्रयत्न करे। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन निश्चय-नय और उपादान की मुख्यता से किया है।

---

१. तत्त्वार्थ सूत्र, ५, १७ से २३.

२. नियमसार. १८४.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपादान-निमित्त की स्वतन्त्रता

१७

जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक कार्य के दो कारण होते हैं–उपादान और निमित्त। उपादान अपने आप में स्वतन्त्र है और निमित्त भी अपने आप में स्वतन्त्र है। उपादान का काम निमित्त नहीं कर सकता, और निमित्त का काम उपादान नहीं कर सकता। दोनों की अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। फिर भी दोनों अपने कार्य के प्रति कारण हैं। उपादान किसे कहना चाहिए और निमित्त किसे कहना चाहिए? इसके उत्तर में कहा गया है, कि पदार्थ की अपनी शक्ति को उपादान कहते हैं, दूसरे शब्दों में पर्याय की वर्तमान योग्यता को भी उपादान कहते हैं। जिस अवस्था में कार्य होता है, उस समय की वह अवस्था स्वयं ही उपादान कारण है। और उस समय उसे अनुकूल पर-द्रव्य निमित्त है। उपादान अपना कार्य करता है, और निमित्त अपना कार्य करता है। दोनों की अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा में जो ज्ञान होता है, वह ज्ञान आत्मा की पर्याय की शक्ति से होता है, या शास्त्र के निमित्त से होता है? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि आत्मा की अपनी पर्याय की योग्यता से ही ज्ञान होता है, पर-निमित्त से ज्ञान नहीं होता। जिस समय आत्मा की पर्याय में अपने पुरुषार्थ के द्वारा सम्यक्-ज्ञान को प्रकट करने की योग्यता होती है, और आत्मा सम्यक्-ज्ञान प्रकट करता है, उस समय गुरु को अथवा शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। परन्तु गुरु से अथवा शास्त्र से वह ज्ञान नहीं हुआ है। जब जीव में प्रथम सम्यक्-ज्ञान का पुरुषार्थ होता है, तब गुरु की देशना का योग होता ही है, किन्तु जब तक जीव का लक्ष्य वाणी की ओर हो तब तक राग है, और जब वाणी का लक्ष्य छोड कर स्वभाव का निर्णय करता है, तब वह ज्ञान होता है, और गुरु को उसका निमित्त कहा जाता है। गुरु के प्रति भक्ति होने के कारण और विनय भाव के कारण शिष्य यह कहता है, कि मुझे गुरु से ज्ञान मिला है, गुरु ने मुझ पर बडा उपकार किया है। यह कहना, कि मुझे गुरु से ज्ञान मिला है, यह विनय का व्यवहार है। सम्यक्-ज्ञान स्वयं की योग्यता से प्रकट होता है, फिर भी गुरु को उसमें कारण मानना यह शिष्य का विनय-धर्म है।

घट की उत्पत्ति :

मिट्टी में से घट की उत्पत्ति कब और कैसे होती है? इसके सम्बन्ध में कहा गया है, कि मिट्टी में घट पर्याय होने की योग्यता सदा की नहीं है, किन्तु उसी समय की है। मिट्टी से घडा बनता है, सो वह उसकी वर्तमान पर्याय की उस समय की योग्यता से बना है। वह कुंभकार के कारण से नहीं बना। यहाँ प्रश्न किया जा सकता है, कि मिट्टी में घडा बनने की योग्यता तो सदा विद्यमान रहती है, किन्तु जब कुंभकार ने किया तब घडा बना? यह मान्यता ठीक नहीं है। क्यों कि मिट्टी में घट रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होने की योग्यता सदा नहीं रहती है, किन्तु वर्तमान में उसी समय की पर्याय में वह योग्यता है। और जिस समय पर्याय में योग्यता होती है, उस समय ही अपने उपादान से घडा होता है। मिट्टी की जिस समय की पर्याय में घडा होने की योग्यता है, उसी समय वह अपने उपादान से ही घट के रूप में परिणत होती है, और उस समय कुंभार की उपस्थिति अपने निज के कारण से रहती है। इस प्रकार घट की उत्पत्ति में मिट्टी उपादान कारण है, और कुंभकार निमित्त कारण है। परन्तु दोनों अपने आप में स्वतन्त्र हैं। दोनों की अपनी-अपनी स्वतन्त्र परिणति है। कार्य-कारण के सम्बन्ध में इतनी बात अवश्य है, कि कार्य की उत्पत्ति के पूर्व क्षण उसकी उपस्थिति अवश्य रहती है।

वीतराग-चारित्र :

जिसके आत्मा में निर्मल वीतराग चारित्र-दशा होती है, उसके उस दशा होने के पूर्व चारित्र को अंगीकार करने का विकल्प उठता है। जो विकल्प उठा सो राग है, उस के कारण वीतराग-भाव रूप चारित्र प्रकट नहीं होता। चारित्र तो उस समय स्व-स्वरूप की लीनता से प्रकट होता है। आत्मा जब विकल्प को छोडकर स्व-भाव की ओर उन्मुख होता है, तब विकल्प को निमित्त कहा जाता है। यदि स्वभाव में लीनता का पुरुषार्थ करके चारित्र-दशा प्रकट करे, तो विकल्प उसका निमित्त कहा जा सकता है। जहाँ जहाँ विकल्प दशा है, वहाँ-वहाँ आत्मा की विशुद्ध-दशा का अभाव है।

श्रद्धान और आत्मा :

आत्मा अपने निज पुरुषार्थ से सच्ची श्रद्धा करता है, यह उसकी पर्याय की वर्तमान योग्यता है। शास्त्र और गुरु वहाँ अपने कारण से उपस्थित हैं। यह नहीं, कि शिष्य ने श्रद्धा की इसलिए गुरु को आना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पड़ा, और यह भी नहीं कि गुरु आया इसलिए श्रद्धा उत्पन्न हुई। यदि यह माना जाए, कि गुरु आया इसलिए श्रद्धा हुई, तो गुरु कर्ता और शिष्य की श्रद्धा कार्य हुआ—इस प्रकार दो-भिन्न द्रव्यों के बीच में कर्ता-कर्मपन हो जाएगा। जो श्रद्धा हुई वह श्रद्धा की पर्याय के कारण से हुई, और जो गुरु आए वह गुरु की पर्याय के कारण से आए। इस प्रकार दोनों स्वतन्त्र हैं। प्रत्येक द्रव्य दूसरे द्रव्य में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करता, किन्तु स्वयं का परिवर्तनं स्वयं में ही होता है। परन्तु उस परिवर्तन में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहता है। जैसे सूर्य का उदय होना और कमल का खिलना। खिलने की योग्यता कमल की अपनी है। यदि उसमें विकासित होने की अथवा खिलने की योग्यता न हो, तो हजार सूर्यों के प्रकट होने पर भी कमल कैसे खिल सकता है? कमल-खिलने रूप कार्य में अपनी योग्यता ही उपादान है, और सूर्य उसमें निमित्त है।

जैन-दर्शन का रहस्य :

जैन-दर्शन के अनुसार वस्तु स्वभाव से स्वतन्त्र है, निरपेक्ष है, स्व-पर की भिन्नता रूप इस स्वभाव को न जान ले, तब तक जीव को पर से सच्ची उदासीनता नहीं होती, विकार का स्वामित्व नहीं मिटता, और अपनी पर्याय का स्वामी, जो आत्म-स्वभाव है, उस की दृष्टि नहीं होती। प्रत्येक जीव तथा अजीव द्रव्यों की पर्याय स्वतन्त्रतया अपने से ही होती है। एक परमाणु भी अपनी ही शक्ति से परिणमित होता है। एक पदार्थ का कार्य दूसरा पदार्थ नहीं कर सकता। यदि इस प्रकार माना जाए तो द्रव्य की अपनी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाएगी। पहले कहा गया है कि प्रत्येक कार्य के दो कारण है—एक उपादान—कारण है, वही यथार्थ-कारण है, दूसरा निमित्त-कारण है, वह आरोपित-कारण है। उपादान और निमित्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन दो कारणों क कहने का अभिप्राय यह नहीं है, कि दोनों एकत्रित हो कर कार्य करते हैं। जब उपादान-कारण स्वयं कार्य करता है, तब दूसरी वस्तु पर आरोप करके उसे निमित्त कारण कहा गया है। किन्तु वास्तव में दो कारण नहीं है, एक ही कारण है। जैसे मोक्ष-मार्ग दो नहीं, एक ही है। जब जीव की पर्याय में विकार होता है, तब कर्म निमित्त रूप अवश्य होता है, किन्तु जीव की पर्याय और कर्म दोनों मिलकर विकार नहीं करते। जीव विकार न करे तब कर्म खिर जाते हैं, इसे निमित्त कहते हैं। जिस द्रव्य की जिस समय, जिस क्षेत्र में, जिस संयोग में, और जिस प्रकार, जैसी अवस्था होती है, वैसी उस प्रकार अवश्य होती है। उसमें अन्तर हो ही नहीं सकता। इस प्रकार की श्रद्धा में वीतराग-दृष्टि हो जाती है। स्व-भाव की दृढता और स्थिरता की एकता है। विकार, उदासीनता और पर से भिन्नता है। यह तो भेद-विज्ञान का वीतरागी कार्य है।

निमित्त-नैमित्तिक :

जो निमित्त से होता है, उसे नैमित्तिक कहा जाता है। निमित्त जनक है, और नैमित्तिक जन्य है। यह परिभाषा व्यवहार की दृष्टि से समझनी चाहिए। वास्तव में निमित्त से नैमित्तिक नहीं होता। किन्तु उपादान का जो कार्य है, सो नैमित्तिक है। और जब नैमित्तिक कार्य होता है, तब निमित्त भी होता ही है। इसलिए उपचार से उस निमित्त को जनक भी कहा जाता है। यदि दृष्टि सदा निमित्त पर ही रहे, और उपादान की ओर न जाए तो जीव सदा निमित्त की ओर ही देखा करे, उसकी दृष्टि सदा बाहर में देखा करे, और वह पर की उपेक्षा करके स्वभाव-दृष्टि का निर्मल कार्य प्रकट नहीं कर सकेगा। निमित्त के मार्ग से उपादान का कार्य कभी भी नहीं हो सकता। किन्तु उपादान की योग्यता से ही उसका कार्य हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
समर्थ-कारण किसे कहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है, कि जब उपादान में कार्य होता है, तब उपादान और निमित्त एक साथ होते हैं, इसलिए उन दोनों को एक ही साथ समर्थ कारण कहा जाता है, और वहाँ प्रतिपक्षी कारणों का अभाव ही रहता है। इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि उपादान के कार्य में निमित्त कुछ करता है। परन्तु इतना सत्य है, कि जब उपादान की योग्यता होती है, तब निमित्त अवश्यमेव होता ही है। यहाँ पर उपादान और निमित्त के सम्बन्ध में जो विचार किया गया है, उसका लक्ष्य एक-मात्र वस्तु स्थिति का दिग्दर्शन है।

एकान्तवाद नहीं :

जिन-शासन में कहीं पर भी और किसी भी स्थिति में एकान्तवाद को स्वीकार नहीं किया गया है। जो कुछ होता है, सो सब एकान्त उपादान से ही होता है, अथवा एकान्त निमित्त से ही होता है, ये दोनों ही पक्ष ग्रहण करने के योग्य नहीं हैं। इसी प्रकार एकान्त निश्चय और एकान्त व्यवहार भी ग्रहण करने के योग्य नहीं है। अनेकान्तवाद ही सब समस्याओं का एक-मात्र समाधान है। आज समाज में जो एकान्त ज्ञानवादी, एकान्त भक्तिवादी और एकान्त क्रियावादी विचार-धाराएँ चल रही हैं, उनसे न व्यक्ति का विकास है, और न समाज का ही विकास है। ज्ञान-शून्य क्रिया और क्रिया रहित ज्ञान कल्याण के कारण नहीं हो सकते। किसी भी वस्तु को अथवा तत्त्व को जानने मात्र से कुछ नहीं हो सकता। जानने के साथ में उसे जीवन में उतारना भी आवश्यक है। भक्तिवादी-धारा में परावलम्बन की जो विचार-धारा है, वह भी आत्म-विकास में साधक नहीं बन सकती। अतः श्रद्धान, ज्ञान और आचरण की एकात्मकता ही हमारे कल्याण का कारण बन सकती है। आज आवश्यकता है, कि इन तीनों धाराओं में समन्वय स्थापित किया जाए, जिससे कि व्यक्ति अपनी आत्म-साधना में सफल हो सके, अपना कल्याण कर सके।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैन-दर्शन और वेदान्त

१८

वेदान्त में अनेक सम्प्रदाय हैं। द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि अनेक सम्प्रदाय वेदान्त में आज भी प्रचलित हैं। परन्तु सबसे अधिक प्रसिद्ध वेदान्त के नाम से आचार्य शंकर का अद्वैतवाद ही समझा जाता है। अद्वैतवाद में ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। बादरायण के वेदान्त सूत्र का सर्व-प्रथम सूत्र है—"अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा।" वेदों में दो विभाग हैं—कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड। कर्म-काण्ड क्रिया प्रधान है, और ज्ञान-काण्ड ज्ञान प्रधान है। मोक्ष किसी क्रिया पर अवलम्बित नहीं रहता। वेदान्त के अनुसार वह केवल ब्रह्म विषयक ज्ञान पर, ब्रह्म की पहचान पर अवलम्बित है। ब्रह्म-जिज्ञासा का अर्थ है—ब्रह्म-स्वरूप की जिज्ञासा। अद्वैत की मान्यता के अनुसार ब्रह्म इस जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय का आदि मूल कारण है। यह ब्रह्म ही जगत की उत्पत्ति, स्थिति और विलय का मूल कारण होने से जिज्ञासा का विषय है। ब्रह्म शब्द बृह् धातु से बना है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
ब्रह्म शब्द का अर्थ है—व्याप्ति, वृद्धि अथवा महत्त्व। इस पर से भी ब्रह्म शब्द के नित्य, शुद्ध आदि अर्थों की भी प्रतीति होती हैं। क्यों कि जो अत्यन्त व्यापक एवं महान् होता है, वह अत्यन्त अनित्य एवं विनाशी नहीं हो सकता। अद्वैत वेदान्त की मान्यता के अनुसार ब्रह्म सब का उपादान कारण है।

मैं कौन हूँ ?

मैं कौन हूँ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है, कि मैं ब्रह्म हूँ। जीव भी ब्रह्म से भिन्न नहीं है। जैसे सागर की तरंग सागर ही है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का ही अंश है। "मैं नहीं हूँ" इस प्रकार अपने अस्तित्व के अभाव का किसी को कभी अनुभव नहीं होता। आत्मा का अस्तित्व यदि अप्रसिद्ध होता, तो "मैं नहीं हूँ" यह अनुभव सब को होता। इसलिए यही सिद्ध होता है, कि आत्मा का अस्तित्व सब के लिए प्रसिद्ध है, और आत्मा का अर्थ है—ब्रह्म। "मैं हूँ" इस अनुभव के साथ-साथ ही, "मैं देह हूँ" यह भ्रान्ति मूलक अनुभव भी होता रहता है। "मैं हूँ" इतना ही सामान्य लोग जानते हैं। लेकिन यह मैं कौन हूँ? उस का सही स्वरूप क्या है? विशेष स्वरूप क्या है? आदि के बारे में सब को अज्ञान ही रहता है। "मैं हूँ" आत्मा के अस्तित्व का यह सामान्य ज्ञान भी अज्ञान का ही स्वरूप है। "मैं हूँ" यह प्रकट आत्मा अर्थात् ब्रह्म के अस्तित्व का ज्ञान है, लेकिन आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान हर किसी को नहीं रहता। जब "मैं हूँ" इस ज्ञान के साथ आत्मा के अस्तित्व का भान नहीं रहता, तब "मैं हूँ" इस सामान्य ज्ञान से किसी को भी आत्मा की पहचान होने की दृष्टि से कोई लाभ अथवा उपयोग नहीं होता। इस प्रकार वेदान्त में आत्मा, जीव और ब्रह्म सब को एक माना गया है। ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सब

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मिथ्या है। इस जगत में जो कुछ जड-चेतन है, वह सब ब्रह्म ही है क्यों कि ब्रह्म के अतिरिक्त जो कुछ भी है, वह आभास मात्र है, वस्तुतः उसकी सत्ता नहीं है। जैन-दर्शन इसके विपरीत द्वैतवादी होने से वह चेतन की सत्ता के साथ जड पदार्थों की सत्ता भी स्वीकार करता है। वेदान्त जिसे मिथ्या कहता है, जैन-दर्शन उसे व्यवहारिक कहता है।

विषय और विषयी :

युष्मत्-प्रत्यय गोचर अर्थात् विषय, और अस्मत्-प्रत्यय गोचर अर्थात् विषयी—इन दोनों का स्वभाव एवं स्वरूप अंधकार और प्रकाश की भाँति परस्पर विरुद्ध है। युष्मत्-प्रत्यय-गोचर और अस्मत्-प्रत्यय-गोचर वेदान्त-शास्त्र में ये दोनों प्रयोग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। युष्मत्-प्रत्यय-गोचर में युष्मत्, प्रत्यय एवं गोचर ये तीन शब्द हैं। युष्मत् का अर्थ है—तुम, प्रत्यय का अर्थ है—ज्ञान,और गोचर का अर्थ है—विषय अथवा आधार। हमारे चित्त में बाह्य विषयों (पदार्थों) का नाना विध ज्ञान उत्पन्न होता रहता है। दिन भर में अनगिनत प्रत्यय (ज्ञान) उठते रहते हैं। कभी-कभी तो एक ही प्रत्यय वार-बार उठता रहता है। चित् में जो प्रत्यय अथवा विषयों का ज्ञान पैदा होता है, उस का आधार बाह्य पदार्थ होता है। इस प्रकार 'युष्मत्-प्रत्यय' का अर्थ तुम प्रत्यय के लिए विषय, आधार अर्थात्, देह रूपी पदार्थ है। गोचर का अर्थ-विषय है। ब्रह्माण्ड में जितने भी पदार्थ हैं, वे सब गोचर अर्थात् विषय हैं। शरीर, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि का जो संघात है, वह भी ब्रह्माण्ड का ही एक भाग है। गोचर शब्द ब्रह्माण्ड के सारे विषयों (पदार्थों) पर लागू होता है। फिर भी यहाँ पर गोचर शब्द विशिष्ट अर्थ में—देह, इन्द्रिय, मन एवं बुद्धि आदि के संघात को लक्ष्य में रख कर प्रयुक्त है। इस प्रकार युष्मत्-प्रत्यय-गोचर का स्पष्ट अर्थ है—तुम, इस ज्ञान का विषय अथवा आधार—देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि का संघात एवं समुदाय।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'अस्मत्-प्रत्यय-गोचर' के अर्थ का विचार करें तो इसमें भी अस्मत्, प्रत्यय और गोचर ये तीन शब्द हैं। अस्मत् का अर्थ है–मैं, प्रत्यय का अर्थ है–ज्ञान और गोचर का अर्थ-विषय अथवा आधार है। इस प्रकार अस्मत्-प्रत्यय-गोचर का अर्थ है–मैं, इस ज्ञान का आधार अर्थात् विषयों को जानने वाला विषयी आत्मा। जैसे हमारे चित्त में वाह्य विषयों के बारे में नाना प्रकार के प्रत्यय उठते रहते हैं, वैसे ही 'मैं' यह प्रत्यय भी सदा उठता रहता है। 'मैं' इस प्रत्यय के अनुसन्धान में हमारी सारी क्रियाएँ चलती रहती हैं। मैं यह प्रत्यय, ज्ञान चित्त में जब सतत उठता रहता है, तब इस 'मैं' के लिए भीतर कोई आधार होना चाहिए। इस आधार को आत्मा, साक्षी, तथा प्रत्यग्-आत्मा आदि नाम दिए जाते हैं। वही चैतन्य स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा है, जो कि शरीर आदि उपाधि के कारण भिन्न और मर्यादित-सा मालूम होता है। इस प्रकार अस्मत्-प्रत्यय-गोचर का स्पष्ट अर्थ है–सारे ज्ञान का आधार अर्थात् ज्ञान का सतत अनुभव करने वाला ज्ञान-स्वरूप, साक्षी, प्रत्यग्-आत्मा एवं परमात्मा। वेदान्त की प्रक्रिया के अनुसार विषय एवं विषयी का विवेचन इस प्रकार से किया जाता है। ब्रह्म विषयी है और शेष जगत विषय। परन्तु वास्तव में अद्वैत में विषय की सत्ता प्रातिभासिक ही है।

देह और देही :

निश्चय ही देही देह में रहने वाला आत्मा देह से सर्वथा भिन्न है। जैन-दर्शन और वेदान्त-दर्शन में इस तथ्य को ले कर जरा भी मतभेद नहीं है। परन्तु विचार भेद यह है, कि वेदान्त देह को मिथ्या मानता है, और देही को सत्य। परन्तु जैन-दर्शन देह और देही दोनों की सत्ता से इन्कार नहीं करता। मन में विषयों के बारे में नाना प्रकार के प्रत्यय उठते रहते हैं। देह के बारे में प्रत्यय उठता रहता है। देह, इन्द्रिय एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विषय आदि हमारे बिल्कुल ही नजदीक है, फिर भी जगत के एक अंश के रूप में ही उनकी गणना होती है। चैतन्य-स्वरूप आत्मा से यह देह आदि जड संघात बिल्कुल ही भिन्न है, विरूद्ध है। कहने का अभिप्राय यह है, कि देह और आत्मा—ये दोनों अंधकार और प्रकाश के समान परस्पर विरुद्ध धर्म के हैं। क्यों कि देह और देह को जानने वाला आत्मा दोनों एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। यह आत्यन्तिक भिन्नता बतलाने के लिए 'मैं' (अस्मत्) के सामने 'तुम' (युष्मत्) शब्द का प्रयोग किया गया है। आत्मा और देह अत्यन्त भिन्न होते हुए और दोनों का स्वभाव परस्पर विरूद्ध होते हुए भी दोनों का एक-दूसरे पर, और दोनों का दोनों के धर्मों का एक-दूसरे के धर्मों पर जो अध्यास (आरोपण) होता है, वह मिथ्या है। इस आरोपण का कारण है, मिथ्या-ज्ञान। मिथ्या-ज्ञान अर्थात् अज्ञान के कारण खुद आत्मा होते हुए भी मैं आत्मा हूँ इस प्रकार न लगना और खुद देह न होते हुए भी मैं देह हूँ, इस प्रकार लगना—यह सत्य और मिथ्या वस्तु का मिश्रण है। सत्य-वस्तु और मिथ्या-वस्तु का मिश्रण करके यह देह मैं हूँ, पुत्र, कलत्र आदि मेरे हैं, इस मिथ्या-ज्ञान के कारण अनादि काल से सारा व्यवहार चला आ रहा है। आचार्य शंकर के अनुसार अध्यास और आरोप मिथ्या है। आचार्य कुन्दकुन्द भी व्यवहार कथन को मिथ्या मानते हैं। क्यों कि व्यवहार में उपचार और आरोपण होता है। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द निश्चय-नय से शुद्ध आत्म-स्वरूप का निरूपण करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आचार्य कुन्दकुन्द और समयसार

१९

आचार्य कुन्दकुन्द का श्रेष्ठ-ग्रन्थ समयसार है। उसमें उन्होंने नव-तत्त्वों का विवेचन मुख्य रूप से निश्चय-दृष्टि का अवलम्बन ले कर किया है। समयसार में उन्होंने आत्मा के उपाधि शून्य शुद्ध स्वरूप का प्रतिपादन किया है। आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन करते हुए आचार्य ने कहा है, कि व्यवहार दृष्टि के आश्रय से यद्यपि आत्मा और उसके ज्ञान आदि गुणों में परस्पर भेद का प्रतिपादन किया जाता है, तथापि निश्चय-दृष्टि से इतना ही कहना पर्याप्त है, कि जो ज्ञाता है, वही आत्मा है, अथवा आत्मा ज्ञायक है, अन्य कुछ नहीं।[१] इस प्रकार आचार्य की अभेद गामिनी-दृष्टि में आत्मा के सभी गुणों का अभेद, ज्ञान गुण में कर दिया है। और अपने मन्तव्य का स्पष्टतया समर्थन किया है, कि सम्पूर्ण-ज्ञान ही एकान्त सुख है।[२] इतना ही नहीं, किन्तु द्रव्य और गुण में अर्थात्

१. समयसार, ६–७.

२. प्रवचनसार, १, ५९-६०.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान और ज्ञानी में भी कोई भेद नहीं है।[1] उनका कहना है, कि आत्मा कर्ता हो, ज्ञान करण हो, यह बात भी नहीं है। उन्होंने आत्मा को ही उपनिषद् की भाषा में सर्वस्व बताया है, और प्रतिपादन किया है, कि आत्मा का अवलम्बन ही मुक्ति है।[2]

आचार्य कुन्दकुन्द की अभेद दृष्टि को इतने से भी सन्तोष नहीं हुआ। उनके सामने बौद्धों के विज्ञानाद्वैत का तथा वेदान्त के आत्माद्वैत का आदर्श भी था। विज्ञानाद्वैत का कथन है, कि ज्ञान में ज्ञानातिरिक्त बाह्य-पदार्थों का प्रतिभास नहीं होता, स्व का ही प्रतिभास होता है। ब्रह्माद्वैत का भी यही अभिप्राय है, कि संसार ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्यों कि सभी प्रतिभासों में ब्रम्ह ही प्रतिभासित होता है। इन दोनों मतों के समन्वय की दृष्टि से आचार्य ने कह दिया, कि निश्चय-दृष्टि से केवल-ज्ञानी आत्मा को ही जानता है, बाह्य पदार्थों को नहीं।[3] यह कह कर आचार्य ने जैन-दर्शन और अद्वैतवाद का अन्तर बहुत कम कर दिया है, और जैन-दर्शन को अद्वैतवाद के निकट रख दिया है।

भारतीय-दर्शनों का द्वन्द्व :

आचार्य कुन्दकुन्द के समय भारतीय-दर्शनों में एक विचार-क्रान्ति चल रही थी। भारतीय-दर्शन की प्रत्येक शाखा इस क्रान्ति से प्रभावित हो चुकी थी। जैन-दर्शन पर भी उसका प्रभाव पडना अनिवार्य था, और वह पडा भी। आचार्य कुन्दकुन्द के समय में अद्वैतवादों का एक तूफान-सा आ गया था। उपनिषद् के ब्रह्म-अद्वैत के अतिरिक्त बौद्ध-दर्शन के शून्य-अद्वैत और विज्ञान-अद्वैत जैसे वाद भी दार्शनिक जगत

१. समयसार, १०-११, और ४३३.
२. समयसार, १६, २१; नियमसार, ९५ और १००.
३. नियमसार १५८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार के विरोधी वादों के मध्य में जैनों के द्वैतवाद की रक्षा करना एक कठिनतम कार्य था। अद्वैतवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद के विरोध में आचार्य कुन्दकुन्द ने जैन-दर्शन के निश्चय-प्रधान अध्यात्मवाद को उस युग की दार्शनिक चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया। जैन-आगमों में निश्चय-नय प्रसिद्ध था ही, और निक्षेपों में भाव-निक्षेप भी विद्यमान था ही। भाव-निक्षेप की प्रधानता से और निश्चय-नय की प्रधानता से जैन-तत्त्वों के निरूपण द्वारा आचार्य कुन्द-कुन्द ने जैन-दर्शन को अन्य दार्शनिकों के सामने एक अभिनव रूप में उपस्थित किया। इसका अर्थ यह हुआ, कि वेदान्त का अद्वैतवाद और बौद्ध-परंपरा का विज्ञानवाद जैन पाठकों को उनके अपने घर में ही मिल गया। निश्चय-नय और भाव-निक्षेप का आश्रय लेने पर द्रव्य और पर्याय, द्रव्य और गुण, धर्म और धर्मी तथा अवयव और अवयवी का भेद मिट कर अभेद हो गया। आचार्य कुन्दकुन्द को इसी अभेद का निरूपण परिस्थिति वश करना था। यही कारण है, कि उनके ग्रन्थों में निश्चय-नय प्रधान वर्णन हुआ है, और निश्चय- नय की अपेक्षा से जैन-आत्मवाद ब्रह्मवाद के समीप पहुँच गया है। आचार्य कुन्दकुन्द कृत ग्रन्थों के अध्ययन के समय उन की इस निश्चय-नय और भाव-निक्षेप प्रधान दृष्टि को सामने रखने से सभी समस्याओं का समाधान मिल जाता है, और आचार्य कुन्दकुन्द का तात्पर्य सहज ही पाठक की समझ में आ जाता है।

नयों का वर्गीकरण :

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार में नय के दो भेद स्वीकार किए हैं—निश्चय और व्यवहार। आगम में निश्चय और व्यवहार का वर्णन बीज रूप में पहले से ही था। आचार्य ने निश्चय और व्यवहार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की व्याख्या आगमानुकूल ही की है, किन्तु उन नयों के आधार से ही विचारणीय विषयों की अधिकता आचार्य के ग्रन्थों में स्पष्ट है। इन विषयों में आत्मा आदि कुछ विषय तो इस प्रकार के हैं, जो आगम में भी हैं। किन्तु आगमिक वर्णन में यह नहीं बताया गया, कि यह वचन किस नय की अपेक्षा से है। जब कि आचार्य ने प्रत्येक वर्णन करते समय उसे स्पष्ट रूप से निश्चय और व्यवहार में घटाने का सफल प्रयत्न किया है। तात्पर्य इतना ही है, कि वस्तु के पारमार्थिक एवं तात्त्विक शुद्ध स्वरूप का ग्रहण निश्चय से होता है। और अपारमार्थिक एवं अतात्त्विक अशुद्ध स्वरूप का ग्रहण व्यवहार से होता है। वस्तुतः षड्-द्रव्यों में जीव और पुद्गल—इन दो द्रव्यों के विषय में सांसारिक जीवों को भ्रम होता है। जीव संसारावस्था में प्रायः पुद्गल से भिन्न उपलब्ध नहीं होता है, अतः साधारण लोग जीव में अनेक इस प्रकार के धर्मों का अध्यास कर देते हैं, जो वस्तुतः उसके नहीं होते। इसी प्रकार पुद्गल के विषय में भी विपर्यास हो जाता है। इस विपर्यास की दृष्टि से व्यवहार को अभूतार्थ-ग्राही कहा गया है, और निश्चय को भूतार्थ-ग्राही।[1] परन्तु आचार्य इस बात को मानते हैं, कि विपर्यास भी निर्मूल नहीं है। क्यों कि जीव अनादि काल से मिथ्यात्व, अज्ञान, और अविरति इन तीनों परिणामों से परिणत होता है।[2] इन्हीं परिणामों के कारण यह संसार का सारा विपर्यास है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि हम संसार का अस्तित्व मानते हैं, तो व्यवहार-नय के विषय का भी अस्तित्व मानना पडेगा। वस्तुतः निश्चय-नय तभी एक स्वतन्त्र नय है, जब कि उसका प्रतिपक्षी व्यवहार-नय विद्यमान है। यदि व्यवहार-नय नहीं है, तो निश्चय-नय भी नहीं। यदि संसार नहीं है, तो मोक्ष भी नहीं। संसार और मोक्ष

---

१. समयसार, १३. २. समयसार ९६.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जैसे परस्पर सापेक्ष हैं, वैसे ही व्यवहार और निश्चय भी परस्पर सापेक्ष हैं।[1] आचार्य कुन्दकुन्द ने परम-तत्त्व का वर्णन करते हुए इन दोनों नयों की सापेक्षता को ध्यान में रख कर ही कहा है, कि वस्तुतः तत्त्व का वर्णन न निश्चय से हो सकता है, और न व्यवहार से। दोनों के द्वारा ही वस्तु तत्त्व का परिपूर्ण वर्णन किया जा सकता है। क्यों कि ये दोनों नय अमर्यादित को एवं अवाच्य को मर्यादित और वाच्य बना कर वर्णन करते हैं। वस्तु का परम शुद्ध स्वरूप तो सभी पक्षों से अतिक्रान्त है। वह न व्यवहार-ग्राह्य है और न निश्चय-ग्राह्य। जैसे जीव को व्यवहार के आश्रय से बद्ध कहा जाता है, और निश्चय के आश्रय से अबद्ध कहा जाता है। स्पष्ट है, कि जीव में अबद्ध का व्यवहार भी बद्ध की अपेक्षा से ही होता है। इसी आशय से आचार्य ने कहा है, कि वस्तुतः जीव न बद्ध है, और न अबद्ध, किन्तु पक्षातिक्रान्त है। यही समयसार है, यही परमात्मा है।[2] व्यवहार-नय के निराकरण के लिए निश्चय-नय का अवलम्बन है। परन्तु निश्चय-नय का अवलम्बन ही सब-कुछ सत्य है, यह नहीं समझ लेना चाहिए। उसके आश्रय से आत्मा के स्वरूप का बोध करके उसे छोड देने पर ही तत्त्व का साक्षात्कार संभव हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने किस अपेक्षा से निश्चय और व्यवहार का वर्णन किया है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है। आचार्य का तात्पर्य समझ लेने पर समयसार जैसे आध्यात्मिक-ग्रन्थ से भय रखने का कोई कारण शेष नहीं रहता। समयसार में जिस अपेक्षा से नव तत्त्वों का वर्णन किया गया है, उस मूल दृष्टि को समझने के बाद उसमें विवाद जैसी वस्तु दृष्टिगोचर नहीं हो सकती।

---

१. समयसार, तात्पर्य-वृत्ति, पृष्ठ, ६७.

२. समयसार, १५२-१५३.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्रव्य का स्वरूप :

संसार के सभी पदार्थों का समावेश आचार्य कुन्दकुन्द के मत से द्रव्य, गुण और पर्याय में हो जाता है।[1] इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है? आचार्य कुन्दकुन्द ने इसका स्पष्टीकरण करने के लिए प्रथम तो पृथक्त्व और अन्यत्व की व्याख्या की है–जिन दो वस्तुओं के प्रदेश भिन्न होते हैं, वे पृथक् कही जाती हैं, किन्तु जिनमें अतद्-भाव होता है, अर्थात् वह यह नहीं है, इस प्रकार का प्रत्यय होता है, वह अन्य कही जाती है।[2]

द्रव्य, गुण और पर्याय में प्रदेश भेद तो नहीं है, अतएव वे पृथक् नहीं कहे जा सकते, किन्तु अन्य तो कहे जा सकते हैं। क्यों कि जो द्रव्य है, वह गुण नहीं है, तथा जो गुण है, वह द्रव्य नहीं है, इस प्रकार का प्रत्यय होता है।[3] इसका विशेष स्पष्टीकरण आचार्य ने इस प्रकार से किया है, कि यह कोई नियम नहीं है, कि जहाँ अत्यन्त भेद हो, वहीं अन्यत्व का व्यवहार हो, अभिन्न में भी व्यपदेश, संस्थान, संख्या और विषय के कारण भेद ज्ञान हो सकता है।[4] आचार्य के कहने का अभिप्राय यह है, कि द्रव्य, गुण, और पर्याय में भेद होने पर भी वस्तुतः भेद नहीं है। क्यों कि ज्ञानी से ज्ञान गुण को, धनी से धन के समान अत्यन्त भिन्न नहीं माना जा सकता। इस प्रकार आचार्य ने द्रव्य, गुण और पर्याय का भेदाभेद स्वीकार किया है।

१, प्रवचनसार, १, ८७.
२. प्रवचनसार, २, १४.
३. प्रवचनसार, २, १६.
४. पंचास्तिकाय, ५२.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुद्गल-द्रव्य की परिभाषा :

आचार्य ने व्यवहार और निश्चय से पुद्गल-द्रव्य की जो व्याख्या की है, वह अपूर्व है। उनका कहना है, कि निश्चय-नय की अपेक्षा से परमाणु ही पुद्गल-द्रव्य कहा जाना चाहिए, और व्यवहार-नय की अपेक्षा से स्कन्ध को पुद्गल कहना चाहिए।[1] पुद्गल-द्रव्य की जब यह व्याख्या की गई, तब पुद्गल के गुण और पर्यायों में भी आचार्य को स्वभाव और विभाव इस प्रकार के दो भेद करना आवश्यक हो गया। इसी आधार पर आचार्य ने कहा है, कि परमाणु के गुण स्वाभाविक हैं, और स्कंध के गुण वैभाविक हैं। इसी प्रकार परमाणु का अन्य निरपेक्ष परिणमन स्वभाव-पर्याय है, और परमाणु का स्कन्ध रूप परिणमन अन्य सापेक्ष होने से विभाव-पर्याय है।[2] प्रस्तुत में अन्य निरपेक्ष परिणमन को जो स्वभाव पर्याय कहा गया है, उसका तात्पर्य इतना ही समझना चाहिए, कि वह परिणमन काल भिन्न निमित्त करण की अपेक्षा नहीं रखता। क्यों कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द के मत से भी सभी प्रकार के परिणामों में काल कारण होता ही है।

आत्म-स्वरूप का प्रतिपादन :

जैन-आगमों में आत्मा को शरीर से भिन्न भी कहा है, और अभिन्न भी। जीव का ज्ञान परिणाम भी माना है, और गति आदि भी। जीव को कृष्ण वर्ण भी कहा है, और अवर्ण भी कहा है। जीव को नित्य भी कहा है, और अनित्य भी कहा है। जीव को मूर्त भी कहा है, और अमूर्त भी कहा है। इस प्रकार जीव के शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों का वर्णन आगमों में उपलब्ध होता है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द ने

---

१. नियमसार, २९.

२. नियमसार, २७-२८.

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri
आत्मा के आगमोक्त वर्णन को समझने की चावी बता दी है। जिसका उपयोग करके आगम के प्रत्येक वर्णन को हम समझ सकते हैं, कि आत्मा के विषय में आगम में जो अमुक स्थान पर अमुक बात कही गई है, वह किस दृष्टि से है। जीव का जो शुद्ध रूप आचार्य ने बतलाया है, वह आगम काल में अज्ञात नहीं था। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द के आत्म-निरूपण की जो विशेषता है, वह यह है, कि उन्होंने अपने युग के दार्शनिकों की प्रसिद्ध निरूपण-शैली को जैन आत्म निरूपण में सफलता के साथ अपनाया है। यही आचार्य की सफलता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्त्व-स्वरूप

: १ :

उपजे विलसे थिर रहे,
यह सत लक्षण जान ।
सत लक्षण कुं जो धरे,
सोई द्रव्य परमान ॥

: २ :

चेतन पर के जोग-सों,
पर को कर्ता होय ।
याते पर को पर लखे,
तजे अकर्ता सोय ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

: ३ :

जान्यो आतम – ज्ञानसों,
आतम आस्रव भेद ।
तब आस्रव-संवर भयौ,
गयो कर्म को खेद ॥

: ४ :

पुन्य–पाप दोनूं प्रकृति,
है पुद्गल को खन्ध ।
इन पर आतम-बुद्धि जो,
एह करम को बन्ध ॥

: ५ :

कर्ता–भोक्ता ज्ञान को,
निहचे ब्रह्म सदैव ।
करे भोगवे कर्म को,
विवहारे यह जीव ॥

—आचार्य देवचन्द्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC-0. In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समकित नवि लहचूं रे,
ए तो सल्यो चतुर्गति मांहे
त्रस-थावर की करुणा कीनी,
जीवन एक विराध्यो।
तीन काल सामायिक करता,
शुद्ध उपयोग न साध्यो ॥१॥
झूंठ बोलवा को व्रत लीनो,
चोरी को पण त्यागी।
व्यवहारादिक मां निपुण भयो,
पण अन्तरदृष्टि न जागी ॥२॥
निज, पर नारी त्यागज करके,
ब्रह्मचारी व्रत लीधो।
स्वर्गादिक याको फल जाणो,
निज कारज नवि सीधो ॥३॥
बाह्य क्रिया सब त्याग परिग्रह,
द्रव्य लिंग धर लीनो।
'देवचन्द्र' कहे या विधि तो हम,
बहुत बार कर लीनो ॥४॥

—आचार्य देवचन्द्र

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Narla, Varanasi